महापाध्याय श्रीयशोविजय गणिकृत आत्मसंवादः ।

सं. विजयशीलचन्द्रसूरि

उपाध्याय श्रीयशोविजयजीनी एक अपूर्ण छतां अद्भुत रचना अहीं आपवामां आवे छे: आत्मसंवाद. तेमनी प्राप्य-अप्राप्य रचनाओनी अद्याविध तैयार थएली सूचिओमां आ नाम प्राय: नथी. केमके सूचिकारोए तो, ए माटे बांधेलां धोरणोने आधीन रहीने ज निर्णय करवानो होय छे. ते धोरणोने चातरीने अटकल-अनुमाननो आधार लेवानुं तेमने माटे वर्ज्य होय छे.

आ रचना यशोविजयजीनी होवानों एक पण लिखित आधार के पुरावो प्रति थकी प्राप्त थतो नथी. प्रतिना प्रारंभे 'एँ नमः' नथी, के नथी प्रतिना प्रान्तभागे कर्ता के लेखकना नामनुं सूचन करती पुष्पिका. अने छतां आ रचना यशोविजयजीनी ज छे तेम कहेवा पाछळ बे मुख्य कारणों छे ते आः तेमना हस्ताक्षर अने तेमनी शैली. वर्षो पूर्वे आ प्रतिनी झेरोक्य मारा हाथमां आवी, त्यारे तेने जोतां ज ते यशो-हस्ताक्षर होवानुं मने खातरीपूर्वक लागेलुं. आजे जेम जेम ते प्रतिनी लखावट, एक एक अक्षरना मरोड वगेरे ध्यान दईने जोऊं छुं, त्यारे ते तेमना ज हस्ताक्षर होवा विशे कोई संदेह रहेतो नथी. यशो-हस्ताक्षरने ओळखनारा आपणे त्यां गण्या गांठ्या जे थोडा जणा छे, तेओ मारा आ तारण साथे संमत थशे तेवी मने श्रद्धा छे. तेमनी सवलत खातर झेरोक्स नकलनी प्रिन्ट आ साथे मूकवामां आवी छे.

प्रति, ग्रंथकारे रचवा धारेला बृहत्काय ग्रंथना खरडा (Draft) समान छे. प्रारंभ खूब सरस अन सुघड लखावटथी थयो छे. पण एकाद पानुं वह्या पछी तरत ज ग्रंथकार उतावळमां आव्या छे अने तेमनी कलम एवी तो गति पकडी ले छे के टेर टेर तेओ पंक्तिनी पंक्तिओ लखीने रह करता जाय छे. अने पाने पाने हांसियामां पाठोनां उमेरण कर्ये ज जाय छे: एटलुं ज निह, आ त्वराने कारणे, यशोविजयजी जेवा विद्वान पुरुष माटे कल्पी न शकीए तेवी क्षतिओ पण आमां थयेली जोवा मळे छे. दा.त. दोषाणां ने बदले दोषानां. छेत्तव्ये ने बदले छेदितव्ये वगेरे. अने अक्षरो छूटी जवानुं पण घणीवार वनतुं जोवा मळे छे. 'त्' नो 'द' थवानी होय त्यां 'त'

ज रहेतो होय तेवुं तो वारंवार छे. आनो अर्थ एटलो ज के ग्रंथकारना फलदूप दिमागमां युक्ति-तर्कोनो एक एवो तो भारे धसमसतो प्रवाह वहेतो होरो के तेने कागल पर अवतारवानी त्वरामां आवुं झीणुं जोवानो अमने अवकाश ज निह रह्यो होय; अने पछीथी सारी नकल करती वेळा आ बधुं समुं करी लेवानो तेमनो ख्याल रह्यो हरे.

शैलीनी वात लईए तो नव्यन्याय-आधारित युक्ति अने तर्कवादनी शैली यशोविजयजी महाराजे आत्मसात् करी छे, अने जैनेतर दरेक दर्शनना सिद्धांतो तथा मान्यताओनुं तेमणे ते शैलीथी खंडन के प्रतिविधान कर्युं छे. सामो पक्ष जे पण तर्क के युक्ति पेश करे, तेना ताणावाणा छूटा पाडीने तेनी तमाम बाजओ तपासवी, ते बधी बाजओ केवी केवी रीते खोटी के अप्रमाण छे ते. देखाडी आपवुं; पछी पोतानी युक्ति रज् करी, सामानी दृष्टिए तेना तमाम अंकोडा उघाडा पाडीने छेवटे तेनी यथार्थता साबित करी आपवी; आवी तलस्पर्शी के घेरुं ऊंडाण धरावती शैली, जेम अन्य रचनाओमां, तेम आमां पण जोई शकाय छे. नव्य न्यायनी परिभाषा अने पद्धतिथी रज्ञात करनार मात्र यशोविजयजी ज थया छे तेमां तो बेमत नथी ज. जैन दर्शनना मतने रजू के स्थापित करती वेळा तेमना मनमां भगवतीसूत्र वगेरे आगमोना पाठ अने शब्द चोक्रसपणे होय छे, अने तेना तात्पर्यने सर्वप्रथम नवनवा अकाट्य तर्कोधी स्थापित करी आपीने छेक छेल्ले तेओ आगमनो पेलो पाठ एवी रीते मूके के आपणा मनमां ए पाठनो मर्म जळहळतो थई जाय, अने तेना प्रति तथा ते पाठ रचनार गणधर-श्रुतधरोना अगाध श्रुतज्ञान प्रति सहेजे दढ आस्थाभाव वधी जाय. यशोविजयवाचकना ग्रंथो अने शैलीथी परिचित जनोने ते ज शैली आ अपूर्ण ग्रंथमां पण अवश्य जोवा मळशे. पछी तेओ पण आ रचना तेओनी होवाना अनुमान साथे सहमत थशे ज, तेनी खातरी ह्वे.

ग्रंथनुं नाम 'आत्मसंवाद' छे; आ नाम कर्ताए पोते २३मा पत्र पर हांसियामां मोटा अक्षरे नोंध्युं छे. नाम मुजब ज आमां आत्मा विशे विस्तारथी चर्चा थई छे. सर्वप्रथम नास्तित्ववादी चार्वाक साथे चर्चा छे, जे ग्रंथनो बहु मोटो भाग रोके छे. ते पछी सांख्य वादी साथेनो विवाद छे, जे एक-बे **32** July-2002

पानांमां ज पूरे थयो छे. छेल्ले क्षणवादी बौद्ध साथे मुठभेड छे, जे अधूरी रही छे. लागे छे के ते चर्चा हजी लांबी चाली होत, अने त्यार पछी अन्य दर्शनो-संबद्ध पण चर्चा होत. तेमणे स्वयं बे स्थळे निर्देश आप्यो छे के - ''भेदाभेदस्थले एव वक्ष्याम:'' अने ''मोक्षसिद्धौ अभिधास्यपानत्वात्''. आनो अर्थ ए के स्याद्वादानुसारी पदार्थो तथा सिद्धान्तोनुं प्रतिपादन करतां करतां भेदाभेदवाद तथा मोक्षसिद्धि पण तेओ आलेखनार हता. पण आपणा दुर्भाग्ये आ बधुं नथी बन्युं- नथी मळ्युं. २३मा पत्र पर वंचाती छेल्ली पंक्तिमां ''इति चे'' आटलुं छे. आमां 'चेत्' एवो शब्द पण तेमणे पूरो नथी कर्यों, 'चे' करीने ज अटकी गया छे; ते परथी तेमनी व्यस्ततानो अंदाज काढी शकाय छे, अने आ त्वरानुं कारण पण समजी शकाय छे. आ लखाण एकवार छूट्युं, ते छूट्युं; पछी तेमने फरीथी आने जोवा-सुधारवा-पूर्ण करवानो अवकाश ज निह सांपड्यो होय ! अद्भुत !

आत्मवाद जेवो गहन के सूक्ष्म विषय अने तेनी जटिल दलीलोनी शृंखला धरावतो आ ग्रंथ होवा छतां ग्रंथकार खूब हळवाशभरी-रमूजभरी भाषानो वारंवार उपयोग करे छे, अने अध्येताना मनने बोझिल बनतुं अटकावे छे. तो हळवा मिजाजमां लखाएल आ रचनामां शृंगारस्स-द्योतक वाक्यो पण एकाधिक वार अवतर्यां छे. जातिस्मरणज्ञाननी प्रमाणता सिद्ध करवा माटे बे उदाहरण तेमणे टांक्यां छे; एक कोई बाळकनुं, पूर्वजन्मनी कामकीडाने वर्णवतुं; बीजुं पण पाटणना बाळकनुं, दिक्षणापथना लक्ष्मीधर गाममां चतुर्मुख जिनप्रासाद होवानुं वर्णवतुं; ते पण बहु विचारोत्तेजक छे. वळी, ग्रंथकार ज आ अंगे स्पष्टता करे छे के "संवादोऽयं, न संवादाभासः, बालस्य विप्रतारणबुद्धयाद्यभावात्". मतलब के ते युगमां पण जातिस्मरण धरावतां पात्रो विशे यशोविजयजी जेवा मेघावी साधु वाकेफ रहेतां हशे. जो आ कल्पना साची होय तो तेमनी वैज्ञानिकता परत्वे आदर उपजे.

जैन आगमोना विविध पाठोनां उद्धरण तो आमां छे ज, साथे अन्य शास्त्रोना संदर्भो पण कर्ताए अनेक स्थाने टांक्या छे. उपरांत, चार्वाक, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध, शून्यवादी, अद्वैतवादी वगेरे मतोनो, चिन्तामणिकार, वाचस्पति, धर्मकीर्ति, सुधर्मस्वामी वगेरे ग्रंथकारोनो, तेमज भगवती, विशेषावश्यक वगेरे ग्रंथोनो उल्लेख पण यथास्थाने आमां थयो छे. आ सिवाय पण, अन्ये,केचित्, अपरे, वदन्ति, आवा सांकेतिक उल्लेखो द्वारा तो तेमणे अनेक पर-दार्शनिकोनो तथा तेमना पाठ-संदर्भोनो हवालो आप्यो छे ज, जेनां रहस्य तो आवा विषयोना खास अभ्यासीओ ज खोली शके.

'स्फटिक' शब्द रत्नजाति माटे प्रसिद्ध छे. अहीं तेओ तेने माटे 'स्फुटिक' शब्द प्रयोजे छे– वारंवार अने 'युवानी–जुवानी' माटे तेमणे शब्द वापर्यो छे– ''यौविनका''.

आ ग्रंथनी हस्तप्रति अमदावादना डहेलाना उपाश्रयना भंडारमां छे, तेम झेरोक्स नकल परनी सिक्कानी छाप जोतां मानी शकाय. वर्षो पूर्वे तेनी नकल में मेळवेली, परंतु क्यांथी, कोना मारफते ते कशुं आ क्षणे याद नथी. प्रतिनो प्रारंभ ''श्रीगुरुभ्यो नमः'' थी थयो छे. मंगलाचरण, प्रस्तावना जेवुं कशुं ज नथी. समजी शकाय छे के एकवार रचना करी लीधा पछी तेने आखरी ओप आपवा पूर्वक अधिकृत नकल करवानी थशे त्यारे आ बधी औपचारिकता करी लेवाशे तेवुं कर्ताना मनमां होवुं जोईए. २३ पत्रनी आ प्रतिमां छठुं पानुं एक बाजुए साव कोरुं-लखाण विनानुं ज रह्युं छे, ते बाबत पण ग्रंथकारनी त्वरा तथा व्यस्ततानी तेमज मनमां उभरता जोशीला प्रवाहनी गवाही आपी जाय छे. प्रारंभना बे पत्रोमां हांसिया माटे लीटीओ बे तरफ आंकेली छे, पण पछी तो वगर लीटीए ज लेखन वह्युं छे.

आ ग्रंथनी प्रतिलिपि करवानुं काम खूब धीरज अने निपुणता मागी ले तेवुं कष्टसाध्य हतुं. मुनि कल्याणकीर्तिविजयजीने ते सोंपतां तेमणे लांबे गाळे पण ते काम पार पाडी आप्युं छे. तेनुं पुनरवलोकन-संपादन वगेरे करवा पूर्वक आजे ते अत्रे प्रस्तुत करवामां आवे छे. उपाध्याय यशोविजयजीनी कृति पर काम करवानुं मळे ए केटलुं बधु संतर्पक अने रोमहर्षक छे, ते वर्णनातीत छे.

+ | 3 | 5 | 11 | 1 | 1 |

विशेषः माध्यस्त्रघाचिविशेष्पदीक्ततीषास्। त5कं। विशेषेषुगमात्रावात्। सामात्रिक्षाय। नात् षात्।तंत्रातुमानविगेषोय्षाध्यम्।तित्यवैसाधेष्यं स्माित्वेसाध्मान्मानमनित्यं बसाधकेनपरि त्र हमानुषष्नचार्नुसानकघाऊत्ता महानामः घमाणं तत्रब्द्धनाषिष्ठतिष्त्रः यस्भूष्माणत्रय -यातेनावित्यसत्नास्तेवघटादे दिवंतस्य घत्यहोणाय हाणात् न **वास्ट्य्रद्**नमानं वमाणं विकष्यादिरो विवामिषिगानेनस्कितं यद्याप्रस्रं स्थित्वक्षं विदिनाजीया पन्नातं। पुरदिकार्या जात्तसका रगमित्रसाधकेनवानुमानेनबाधनिएमैदंसदेनाप्।अपिवानुमानस्पविष्यः किंसामान् दिशेषा वा पिकिं बित्ययोजनं मुमष्यप्रदानिं प्रतिरेगारिषिशिष्येववाक्तरेन्यात्। निष्तायः अत्रिषि कि तरे गारिवित्रोधो व कि रसी निवित्रोषः साध्य साम्राम् व तुक्ति विविद्ध नर्दे गारि वि । जापा महि तस्प् व क्रेर**न्यया**जावास् म**६प्**वतोयंबक्षिमान् भूमारितारोबिबक्तितरेबारिविशिष्टेनमाध्येनम्हहेता रचयासितद्यास्थिनवक्षादिनाज्ञहस्सादेजाषानित्र्यात् नाषि इतीषः तजापिहमामाय्यात् ॥श्रीगुसन्योनमः॥ऽहरवलुज्ञानिक्यान्यान्यान्यान्यान्तरतिनेनास्तनमहत्त्रवार्वाकस्तघाहि।मोझोहिज्यावृत्त्रो अन्यंवास्पात्।नाद्यः।सै अधिमात्रास्ति येकस्पविषि शतिप्स्यनोनिस्वक्साधात्।नव्तेनस्रिदेन।

आत्मसंबाद' - प्रथम पानुं

'आत्मसंवाद' - छेल्ड पानुं

अतिश्वरम् श्रामियतम् म्स्तिस्ति स्ति । ज्याम् स्माप्ति क्षित्रे क्षित्र क्ष्याची क्ष्या निकान्त्र विभाषित कर्त्र कर्ता +त्र हि भूताम् मान्यान् । अस्ति स्थान् । अस्ति स्थान् । अस्ति । हिन्द्रणारिक्राणानन्यम्बन्सार्वमितिः ष्ट्रमहासम्बन्धम् विद्युम्यक्षित्रम्यक्षित्रम् भन्नामध्यित्रम् विक्यो। पितवैव प्रवत्रे भूम विकान श्रीकारण ज्याकान स्याक्तिन विक्रानेनीन काम्याभूत जन नक्ष्यान नेम्न रही तामता यान क्षेत हर्न बनाति वत्का क्षि हानात्। इसकारणवात्रव्यात्म्मात्कायेत्रत्नम् स्वजाव्यितिवृद्धाः कान्यवाद्येवत्रकात्रत्यहेणमान्यवाकार्यम्पिन्यम् म्मारिकार्यम् राटारिमान् रिमार्यन् विवास्ति वितिन सर्वितम्परिनुमैयेरे। प्रसाम्भववित् देनुमानावार्यभूमारिकारिन है। मति मान्यराज्न्य नाम्सार विकाम महित्र मितिका में नाविष्य ती त्येवा निर्विक कार्यकारण न्यवस्था महित्र विष्य वेट् लक्ताप्रिम्मारिकार्यनितारिनित्तात्र अम्मारिक्तिविद्यात्रीयापिक्षात्रात्रमात्रमात्रमात्र हेतु स्मान्। अम्मारेश्वनवति रिण वस्त सिमासमाम् ने करा वित्र वस्त प्रमास प्रमास महत्ता ने महत्ता ने महत्त्व में ने महत्त्व महत्ता महत्त स्रतियुक्तः वृत्यक्तानुष्तिना दिनाकार्यकाराण्याचाक्सायः। नवसितिभूषः अजनम्बनावानलया हकविज्ञानमन संजयस्य भार न्यमा अस्ति। सबैकातावे विकायत्त्रमा मे त्र कम्मका प्रति त बक्षेत्रमा अस्ति कार्यकाषण प्रभाद्या रिकामिक स्थापत र्णश्मित्रप्रमाधितास्त्राम्। एतेनदेष्यत् बिटाक्टम्यास्यिक्तियत्त्राम्यद्रोते त्रम्बपुमाहिकापेमास्त्राः सनिधामात्रागिष्यंत्रमात् । किंचेरंकारणस्वेद्श्यक्रंकार्णनायसङ्ख्यभनक्षित्रमानं।श्लिकार्रग्यक्तियम्बिकानमान्देववित्रक्ष्येनकार्यपुष्ट्लाममर्थनार्यकार्यक्ष प्तिनस्तानस्स्नाप्त्राप्यसामधीत्कापलस्यन्धनेत्रधान्त्रप्ते। स्रक्ष्यभ्यभोकापणच्याः क्राविदनुषनंत्रपुरु म कार्यम्पुसत्त्वाम्मसेष्ट्रमारामम् त्रामब्द्धितकट्क्रद्वारिट्नुक्च्याक्ष्मस्त्रम्बस्त्रीत्रम्बाकरावित्रस्तिकुःभोतानुपत् धमरिता मामावा(वेजीका अर्थसम्बनाय्त्राय्ताया माधाम्बनाव्याता प्रमान्याता प्रमान्या

आत्मसंवाद:

॥ श्रीगुरुभ्यो नम: ॥

इह खलु 'ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्ष' इति जैना: । तत्र सहते चार्वाक: । तथा हि- मोक्षो हि जीवस्योच्यते भवद्भिः, स तु नाऽस्त्येव, घटादेखि तस्य प्रत्यक्षेणाऽग्रहणात् । न च तदन्यदनुमानं प्रमाणं, अनुमानविरुद्धत्वादिदोषात् । तत्राऽनुमानविरोधो यथा-घटस्य नित्यत्वे साध्ये । घटस्य हि नित्यत्वं साध्यमानमनित्यत्वसाधकेन परिणामित्वसाधकेन चाऽनुमानेन बाध्यते । एवं सर्वत्राऽपि ।

अपि चाऽनुमानस्य विषयः किं सामान्यं विशेषो वा उभयं वा स्यात्। नाऽऽद्यः, अग्निमात्रास्तित्वे कस्यचिद् विप्रतिपत्त्यभावेन सिद्धसाधान् (सिद्धसाधनात्)। न च तेन सिद्धेनाऽपि किञ्चित् प्रयोजनं, पुरुषस्य प्रवृत्तिं प्रति देशादिविशिष्टस्यैव वह्नेहेंतुत्वात्।

न द्वितीय:, अत्र हि विवक्षितदेशादिविशिष्टो बह्निरस्तीति विशेष: साध्य:, तच्च न युक्तं विवक्षितदेशादिविशेषणसहितस्य बह्नेरन्वयाभावात् । न हि पर्वतोऽयं बह्निमान् धूमादित्यादौ विवक्षितदेशादिविशिष्टेन साध्येन सह हेतोरन्वयोऽस्ति, तथाविधेन बह्न्यादिना सह धूमादेर्व्याप्त्यनिश्चयात् ।

नाऽपि तृतीयः, तत्राऽपि हि सामान्यवान् विशेषः साध्यः । तथा च विशेषपक्षोक्तदोषात् । तदुक्तं-

> 'विशेषेऽनुगमाभावात्, सामान्ये सिद्धसाधनात् । तद्वतोऽनुपपन्नत्वादनुमानकथा कुतः ? ॥ इति ।

न चाऽऽगमः प्रमाणं, तत्र बहुनां विप्रतिपत्तेः । यतु प्रमाणं तत् सर्वेषामविगानेन स्थितं, यथा प्रत्यक्षम् ।

अपि च कथं 'छव्विहा जीवा पत्रता, तं० पुढविकाइया जाव तसकाईया' तथा 'अत्थि जीवे' इत्यादि जीवास्तित्वप्ररूपकं वचः प्रमाणम् ? पृथिव्यासेजो-वायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदायेषु शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा । तथा 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय पुनस्तान्येवाऽनुविनश्यित' इत्यादिकं च जीवप्रतिषेधपरं न प्रमाणं ?, नियामकाभावात् ।

तस्मात् सुदृढमिदं यन्नाऽस्ति जीव: ।

ननु यो भूतव्यतिरिक्तं जीवं प्रतिषेधित स एव जीवः, जीवादन्यस्य घटादेरिवाऽचेतनत्वेन प्रतिषेधकत्वायोगात्, इति चेत्-

न, चैतन्यविशिष्टकायस्यैव परलोकगामिजीवप्रतिषेधकत्वात्, तदन्यसत्त्रे प्रमाणाभावात् ।

यतु 'जीवश्चेत् परलोकगामी न भवेत् तर्हि दानादिफलस्याऽभाव एव स्यात्, ततः प्रतिपद्यतां परलोकगामी जीव इति', तत् भस्मावगुण्डितपुरुषवचनवत् प्रश्नाननुरूपत्वादसङ्गतम् । तथा हि—

केनाऽपि प्रामाणिकेन कश्चिद् भस्मावगुण्डितशरीरः पृष्टो यथा-केचिद् वादिन आचक्षते-देवो नाऽस्ति, प्रमाणाभावात् । तत्र किमुत्तरम् ? स आह यदि देवो न स्यात् तर्हि धार्मिको देवार्चनिनिमत्तं पुष्पानयनाय कथमाराममगात् ।

न होदं वाक्यं देवसाधकं, भ्रान्त्यैव तत्प्रवृत्त्युपपत्तेः । एवं दानादेरिप लोभ-मिथ्याज्ञानादित एव कैश्चित् प्रवर्तितत्वेन परलोकगामिजीवसाधकता दूरापास्ता ।

अथ स्मरणं ह्यनुभूतविषयं, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । स्मर्थते च केनचित् पूर्वभवसम्बद्धं जन्म । ततोऽवश्यं तदनुभूतिमिति सिद्धः परलोकगामी आत्मा इति चेत् ।

न । निह पूर्वभवसम्बद्धजाति स्मरन् कश्चिदुपलभ्यते येनैवमुच्यमानं मनो हरति विदुषाम् । न चाऽनुपलभ्यमानोऽपि कश्चिद् भविष्यतीति स्वीकरणीयं, वन्ध्यापुत्रस्वीकारप्रसङ्गात् ।

ननु बालकस्य प्रथमत एवोत्पत्रस्य स्तनदर्शनान्तरं स्तनादानाभिलाषो जायते । स चाऽभिलाष: पूर्वविवक्षितकारणदृष्टावेव दृष्टेषु कार्येषु तत्कार्यतया च ज्ञातेषु सत्सु पुनरिप कालान्तरे विवक्षितकारणदर्शनानन्तरमुपजायमानेन स्मरणेन विवक्षितकारणंदिशतया विवक्षितकारणादानिवषयो जन्यते, नाऽन्येन । न चाऽसौ बालकस्य तदानीमसिद्ध इति वाच्यं. अभिलाषादेव प्रतिनियतविवक्षित-कारणोपादानाद्यर्थे प्रवृत्त्यादिव्यवहारोपपत्ते: । यदुक्तम् -

तद्दृष्टावेव दृष्टेषु संवित्सामर्थ्यभाविन: । स्मरणादभिलाषेण व्यवहार: प्रवर्तते ॥इति॥ 38 July-2002

ततः प्रथमत एवोत्पत्रमात्रस्य बालस्य स्तनाभिलाषदर्शनादनुमीयते देहातिरिक्तः परलोकयायी जीवोऽस्ति, येन पूर्वभवे क्षुदपनोदकारी स्तनो दृष्टः सम्प्रति स्मरणविषयीकृत इति ।

भैवम्, भूतस्वभावादेव स्तनादानाभिलाषस्योपपत्ते: । अयमेव हि भूतानां स्वभावो यत् प्रथममन्नुभूतमपि किञ्चित् स्वात्मन उपष्ठ(ष्ट)म्भकारकमुपाददते । न च स्वभावेऽपि पर्यनुयोगो घटते ।

'अग्निर्दहति नाऽऽकाशं कोऽत्र पर्यनुयुज्यते ॥' इति वचनात् । विचित्रकार्यकारितया च भूतस्वभावस्याऽपि विचित्रत्वात् ।

अनेन प्रतिनियतालब्धिवत्तलाभ-लब्धिवत्तापहारवैचित्र्ये नियामकं पूर्वभवाजितमेवाऽदृष्टं स्वीकर्तव्यं, तस्वीकारं च कर्तारमन्तरेण तदनुपपत्तेस्त-त्कर्तुग्रत्मनोऽपि पूर्वभवेऽस्तित्वमङ्गीकर्तव्यमित्यपि निरस्तम् । भूतानामेव तथा-स्वभावत्वेनाऽलब्धिवत्तलाभादिवैचित्र्योपपत्तेः । उक्तं च - 'जलबुद्धदवज्जीवा' इति । यथैव हि सिरत्समुद्रादौ नियामकादृष्टं विनाऽपि स्वभावसामर्थ्याद् विचित्रा बुद्बुदाः प्रादुःघ्यन्ति तथा प्राग्भवोपाजितादृष्टमन्तरेणाऽपि अलब्धिवत्तलाभादि-वैचित्र्यभाजो जीवा इति । अपि चैतन्यविशिष्टकायमात्ररूपा भवन्ति इति नाऽस्ति परलोकगाम्यात्मा, तदभावाच्च नारकत्वाद्यवस्थारूपस्य परलोकस्याऽप्यभाव एव । तदुक्तम्-

'एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः' ॥ इति एवं च परलोकार्थं तपश्चरणाद्यप्यनुष्ठानमनर्थकम् । यदाह-'तपांसि यातनाश्चित्राः संयमो भोगवचने'ति ॥

अत्रोच्यते- यत् तावदवादि 'आत्मा प्रत्यक्षेण नोपलभ्यते घटादिवदिति', तद्युक्तम्; अवग्रहेहापायधारणानां स्वसंवेदनप्रसिद्धत्वेनाऽऽत्मनोऽपि प्रत्यक्षत्वात् । धर्मप्रत्यक्षत्वे धर्मिणोऽपि प्रत्यक्षत्विनयमात् । निह रूपादिप्रत्यक्षादन्यत् घटादीनां प्रत्यक्षेणोपलम्भनमस्ति, न चाऽवग्रहादीनां स्वसंवदनप्रसिद्धत्वमसिद्धम्; विवक्षित-नीलत्वलक्षणविषये नीलं विज्ञानमुत्पन्नं ममाऽऽसीदित्यादेखग्रहादिविषय-कस्मरणात् तिसिद्धेः । न चाऽननुभूतविषयमपि स्मरणं, अतिप्रसक्तेः; अनुभवश्चैषां स्वसंवेदनेनैवेति कथं न स्वसंवेदनप्रसिद्धत्वम् ? ।

न चाऽवग्रहादिज्ञानानां स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वेऽपि न धर्मत्वं, सततं

अनुसंधान-२०

परतन्त्रतयोपलभ्यमानत्वेन रूपादीनामिव धर्मत्वात् । धर्माश्च न धर्मिणमन्तरेणेति य एषां धर्मी स एवाऽऽत्माः; प्रत्यक्षश्चाऽसौ, एतत्प्रत्यक्षत्वात् । अन्यथा घटादीनां प्रत्यक्षत्वे का प्रत्याशा ?। रूपादीनामेव तत्राऽपि प्रत्यक्षत्वम्; इत्यस्याऽपि सुवचत्वात् । अनुभवविरोधश्चेद् दूषणं, स किं नाऽत्र, येनात्मनः प्रत्यक्षत्वं न स्वीकुरुषे ? ।

किं च, अस्त्यहमिति ज्ञानं, न चैतत् प्रत्याख्यातुं शक्यम्, अनुभविवरोधात्। न चैतद्नुमितिरूपं, व्याप्तिस्मरणदिनिरपेक्षत्वात्। किन्तु प्रत्यक्षं, स्वसंविदितरूपत्वात् स्पष्टप्रतिभासत्वाच्च। तद्विषयश्च न बाह्योऽर्थस्तस्याऽत्र प्रतिभासाभावात्। न च भूतचतुष्टयविषयमिदं ज्ञानं, अरूपदिप्रतिभासात्मकत्वात् अन्तर्मुखावभासित्वाच्च। यत् पुनर्भृतचतुष्टयविषयं तद् बहिर्मुखावभास्येव, तथा प्रतीयमानत्वात्। न चेत्थं प्रतिभासमानस्याऽप्यहंप्रत्ययस्य विषयान्तरमेव कल्पयितुं शक्यम्। सिललादिप्रतिभासिनोऽपि ज्ञानस्य पृथिवीविषयत्वकल्पनया तद्भाव-प्रसक्तेः। तस्मादेतस्य यो विषयः स आत्मैवेति कथमुक्तम् 'आत्मनः प्रत्यक्षेण न ग्रहण'मिति ?।

अथ यथा रूपादिविषये प्रत्यक्षमुत्पद्यमानं तत्स्वरूपमवगमयित तथा आत्मविषयेऽप्युत्पद्यमानं प्रत्यक्षमात्मस्वरूपमवगमयेत् । न च प्रत्यक्षविषये वस्तुनि विप्रतिपत्तिरतोऽप्रत्यक्ष एवाऽऽत्मेति चेत्-

न, 'इदं रूप'मित्यादिप्रत्यक्षस्य यथा रूपस्वरूपप्रकाशकत्वं तथा-'ऽयमह'मिति प्रत्यक्षस्याऽप्यस्त्येवाऽऽत्मस्वरूपप्रकाशकत्वं, शरीरगुणग्रहण-वैमुख्यतयाऽन्तर्मुखावभासित्वेन प्रवृत्ते: ।

न चैवमात्मनः सदा सिन्नधानात् सदैवाऽहंप्रत्ययप्रसङ्गेन सदैवाऽऽत्मग्रहणं इति वाच्यम् । आत्मनः सदा ग्रहणस्वभावत्वानभ्युपगमात् । कर्मवशगस्य हि तस्य तत्कर्मक्षयोपशमसामर्थ्यादेव तत्र तत्र विषयग्राहकत्वेन प्रवृत्तेस्त-त्कर्मप्रतिबन्धादेव च तदैवाऽपरत्राऽप्रवृत्तेरिति न सर्वदैवाऽऽत्मग्रहणम् ।

न च प्रत्यक्षविषये वस्तुनि न विप्रतिपत्तिर्भूतेष्विप तद्दर्शनात् । प्रकृतिविकाररूपत्वेन तेषां सांख्यै: स्वीकारेऽपि वैशेषिकैरणुद्ध्यणुकादिकमारब्ध-कार्यरूपतया, बौद्धेश्च विज्ञानमात्ररूपतया स्वीकारत् । यदि चेयं न वस्तुतो विप्रतिपत्ति:, प्रसिद्धव्यवहारनियमात्, सर्वेरिप सांख्यादिभि: शौचादितत्तत्कर्मार्थे

मृदादेरेवोपादानात्, तदेतदात्मन्यपि तुल्यं; सर्वैरिप वादिभिः शरीरस्य जडत्वेन तदितिरिक्तेनैव चेतनेन दर्शनस्मरणप्रत्यभिज्ञानालोचनादिकरणात्।

नन्बहंप्रत्ययो नाऽऽत्मविषयोऽहंप्रत्ययत्वात्, स्थूलोऽहमिति प्रत्ययवदिति चेत् नः विपक्षबाधकाभावेनाऽप्रयोजकत्वात् । सहचारदर्शनमेव विपक्षबाधकमिति चेत्, नः दूरस्थमङ्गारभृतं पात्रं धूमवत्, विह्नमत्त्वादित्यस्याऽपि प्रयोजकत्वपातात्, महानसादौ धूमध्वज-धूमयोः सहचारदर्शनातः अनुमानप्रामाण्याङ्गीकारेऽ-पसिद्धान्ताच्च ।

ननु सुहृद्धावेन पृच्छामि-स्थूलोऽहं कृशोऽहमिति योऽहंप्रत्ययः स नाऽऽत्मविषयोऽहं सुखी अहं दुःखीति प्रत्ययस्तु आत्मविषयः, इत्यत्र किं नियामकम् ? इति चेत्-

न । उभयस्याऽप्यस्याऽऽत्मविषयकत्वात्; अन्तर्मुखावभासितया प्रवृत्तत्वेन । किन्तु 'स्थूलोऽहं' इत्यादिरूपस्य भ्रमत्वम्, अस्थूल एवाऽऽत्मिन स्थूलत्वग्रहणरूपत्वात् । अतत्प्रकारे तत्प्रकारकज्ञानस्यैव भ्रमत्वात् । 'अहं सुखी' ति ज्ञानस्य तु प्रमात्वं, सुखिन्येव सुखग्रहणस्वरूपत्वात् । तद्वति तदन्याप्रकारकज्ञानस्यैव च प्रमात्वात् । निंह तस्येवाऽस्याऽपि भ्रमत्वमेव. रक्तजपाकुसुमसंसर्गाद् रक्तः स्फुटिक इति ज्ञानस्येव कठिनः स्फुटिक इत्यस्याऽपि भ्रमत्वप्रसङ्गत् ।

अथ भवित रक्तः स्फुटिक इति प्रत्ययस्य भ्रमत्वं, जपाकुसुमसंसर्गाभावे शुक्तः स्फुटिक इति बाधकज्ञानदर्शनात् । न तु कठिनः स्फुटिक इत्यस्याऽपि. द्रवत्वाधिकरणं स्फुटिक इति विपरीतप्रत्ययस्य जातुचिदप्यदर्शनात् इति चेत् ।

तर्हि कुतो न भवित स्थूलोऽहमिति प्रत्ययस्य भ्रमत्वम् ? अहं सुखीित प्रत्ययस्य चाऽभ्रमत्वम् ? मोहापगमे विवेकाकित मनिस 'स्थूलोऽहं नाऽस्मि, किन्तु शरीरं मे स्थूलं' इति भेदप्रत्ययस्य बाधकस्याऽत्राऽपि दर्शनात्ः 'नाऽहं सुखी, किन्तु शरीरं मे सुखि' इत्यस्य च कदाचिदप्यदर्शनात् ।

वस्तुतस्तु स्थूलोऽहं इत्यादिप्रत्ययस्याऽपि भेदं तिरस्कुर्वत एवोत्पद्यमानस्य भ्रमत्वं, स्थूलशरीरवानहमित्येवं शरीरोपाधिकतया जायमानस्य तु आत्मालम्बन-तयाऽपि सत्यत्वमेव । दृश्यते चाऽभेदितरस्कारेणाऽपि तज्जायमानं, यथा स्थूलं कृशं वा मम शरीरमिति ।

अथ मदीय आत्मा इत्यत्राऽपि अभेदितस्कारेण भेदेन प्रतिपत्तिरस्ति। न च मच्छब्दवाच्यमात्मान्तरमपि स्वीक्रियते भवता। न चैवं प्रतिपन्नस्त्वयाऽप्यात्मा एतदात्मशब्दाभिधेय इति वाच्यं, मम शरीरं कृशमित्यादिज्ञानेषु शरीरव्यतिरिक्त-मालम्बनमङ्गीकुर्वतो ममाऽऽत्मा सुखीत्यादिज्ञानेष्वपि आत्मव्यतिरिक्तालम्बना-भ्युपगमप्रसङ्गस्याऽनिष्ट्रस्याऽऽपादनात् इति चेत्।

न ! निह ममाऽयमात्मेति ज्ञाने शरीरादिवन्मत्प्रत्ययविषयादन्य आत्मा प्रतिभाति, किन्त्वहमित्यात्मानं प्रत्यक्षतः प्रतिपद्याऽऽत्मान्तरव्यवच्छेदेन परप्रतीत्यर्थं ममाऽऽत्मेति निर्दिशतिः ममाऽऽत्माऽहमेवेत्यर्थः । यदा पुनः शरीरमात्मशब्देन निर्देष्टुमिच्छति तदा ममाऽऽत्मेति भेदाभिधानमेवेदम्, आत्मोपकारकत्वेन शरीरे आत्मत्वोपचारत्, प्रियभृत्येऽत्यन्तोपकारकतयाऽहमेवाऽयमित्यादिवत् ।

अथवा ममाऽऽत्मेति मत्प्रत्ययविषयात् भेदेनाऽऽत्मज्ञानं बाध्यत्वादस्तु भ्रमरूपं, शरीरभेदज्ञानं तु कथं तथा ? नहि एकत्र मर्वादौ सलिलज्ञानस्य भ्रमत्वे विमलजललहरीमनोहारिणि सरस्यपि तस्य भ्रमत्वं, भ्रम-प्रमाविशेषाभावप्रसङ्गात्।

तत् सिद्धमहं-प्रत्ययस्य प्रत्यक्षतया तद्विषयस्याऽऽत्मनोऽपि प्रत्यक्षत्वम् ॥ एतेन किं स्वरूपमात्मन: प्रत्यक्षेणाऽवगम्यते तद् वाच्यं मनागिति न किञ्चित्।

सुखादेरिप कि स्वरूपं प्रत्यक्षेणाऽवगम्यते यन्मानसप्रत्यक्षे तत् स्वीक्रियते ? न ह्याख्यातुमशक्यमिप प्रत्याख्यातु शक्यं इति यदि, तदत्राऽिप तुल्यम् । अथाऽऽख्यायते एव सुखादेरानन्दादिस्वरूपं प्रसिद्धमेव रूपं प्रत्यक्षेणाऽवगम्यते इति चेत्, तर्हि तदाधारत्वमात्मनोऽिप रूपं प्रत्यक्षेणाऽवगम्यत इति कथं न जानाित भवान् येनैवं लज्जामपहाय पुनः पुनः प्रसपित । तदुक्तम्-

सुखादि चेत् समानं हि स्वतन्त्रं नाऽनुभूयते । मतुबर्थानुवेधात् तु सिद्धं ग्रहणमात्मनः ॥१॥ इदं सुखमिति ज्ञानं दृश्यते न घटादिवत् । अहं सुखीति तु ज्ञसिरात्मनोऽपि प्रकाशिका ॥२॥ इति ।

यत् तु आत्मन्यसत्येव प्रत्यक्षग्रहणाभिमान एष आत्मवादिनां निमोलिताक्षस्य तिमिरग्रहणाभिमानवत्, तत् तुच्छम् । न हि प्रागगृहोतान्धकारस्य निमोलिताक्षस्यान्धकारग्रहणाभिमानः. जात्यन्धस्य तथाऽदर्शनात् । किन्तु प्राग्गृहीतान्धकारस्य निमीलिताक्षस्य प्राग्गृहीतस्यैवाऽन्धकारस्योपस्थापनेन ।

न चैवं त्वयाऽपि प्रागात्मा गृहीतोऽस्तीति स्वीक्रयते येनाऽस्यैवो-पस्थापनेनाऽहंप्रत्ययादात्मग्रहणाभिमान उच्यमानः सुन्दरतां तवाऽऽत्मनः ख्यापयेत्। यदि तु स्वीकृतस्तदा सिद्ध एवाऽऽत्मेति कृतं विवादेन ।

अत्राऽऽह - अस्तु अवग्रहादिज्ञानभेदानां धर्मतया प्रत्यक्षतया च तद्धर्मिणोऽपि प्रत्यक्षत्वम् । परं कुत एवं परलोकगाम्यात्मा प्रत्यक्षः ? भूतानामेव तद्धर्मित्वोपपत्तेः । यदुक्तं वाचस्पतिना-

'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीर-विषयेन्द्रिय-संज्ञास्तेभ्यश्चैतन्यमिति । कायाकारप्राणापानपरिग्रहवद्भयो भूतेभ्यस्तदुत्पद्यते तेनाऽविशिष्टेभ्य इति । प्रयोगश्च-चैतन्यं कायाकारभूतेभ्यः समुत्पद्यते, तद्भाव एव भावात्, मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिवत् । न चोत्पद्यतां तथाविधभूतेभ्यः परन्तु धर्मी तस्य जीव एव स्यादिति वाच्यम्; उत्पादकत्वाभिमतभूतसमुदायस्यैव धर्मितया-ऽऽत्मकल्पनानवकाशात्' ॥

तत्र, चैतन्यस्य धर्मत्वे स्वीकृते आत्मास्वीकारस्य लज्जास्पदत्वात्; धर्मिणमन्तरेण धर्मस्याऽवस्थितेरभावात् । न च भूतान्येव धर्मी, आनुरूप्याभावात् । अन्यथा जल-काठिन्ययोरिप धर्म-धर्मिभावप्रसङ्गात् । न चाऽऽनुरूप्या-भावोऽसिद्धः, अबोधस्वरुपस्य मूर्त्तस्य विषयापरिच्छेदकस्य पृथिव्यादिभूतस्य बोधस्वरूपं अमूर्त्तं विषयपरिच्छेदकं चैतन्यं प्रति अनुरूपित्वाभावात् । अबोधस्वरूपत्वादिकं च भूतानां सकलजगत्प्रसिद्धमेवेति नहि तदिप प्रत्याख्यातुं शक्यम् ।

तदिदमुच्यते-भूतसमुदायश्चेतन्यस्य धर्मी न, चैतन्येन सहाऽननुरूपित्वात् । यद् येन सहाऽननुरूपि तत् तस्य धर्मिभूतं न, यथा काठिन्यस्य जलम् । अननुरूपी च चैतन्येन सह भूतसमुदायस्तस्मान्न चैतन्यस्य धर्मीति । तदुक्तम्-

> काठिन्याबोधरूपाणि भूतान्यध्यक्षसिद्धितः । चेतना च न तद्गूपा तद्धर्मः सा कथं भवेद् ॥ इति । किं च. न प्रत्येकं भूतानां धर्मश्चेतन्यं, घटपटादावभावात् । अथं तत्राऽष्यस्त्येव चैतन्यं, किन्त्वनभिव्यक्तं काष्ट्रपिष्टादौ मदशक्तिवत् ।

अनुसंधान-२०

कायाकारपरिणतभूतेभ्यः पुनरस्याऽभिव्यक्तिः, सुराकारपरिणतेभ्यस्तेभ्य इव तस्या इति चेत् । न । अविद्यमानायाश्चेतनायाः कायाकारपरिणतभूतैरिभव्यक्तेरिसद्धेः । ननूक्तमेव कायाकारात् प्रागपि भूतेषु अनिभव्यक्ता सा विद्यते इति चेद्-उक्तं, परमयुक्तम् । तत्सत्त्वे प्रमाणाभावात् । न च विना प्रमाणं किञ्चित् सिध्यति, सर्वस्य सर्वेष्टार्थसिद्धिप्रसङ्गात् ।

न च प्रत्यक्षमेव प्रमाणं, अतीन्द्रिये विषये तत्प्रवृत्तेरसिद्धेः । अनुमानं तु त्वया न स्वीक्रियत एव, अपसिद्धान्तापातात् ।

नन् सिद्धान्तरहस्यिमदमस्माकम् । सैद्धान्तिकैरुक्तं-यदलौकिकमनुमानं स्वर्गनरकादिप्रसाधकं तत्र प्रमाणम् । लौकिकं तु धूमादि प्रमाणमेव । तद्दर्शनानन्तरं समस्तेनाऽपि लोकेनाऽग्नेरनुमीयमानत्वात् - इति चेत्-

हन्तैवमिप अकायाकारभूतेषु चैतन्यानुमानमप्रमाणमेव, समस्तेनाऽपि लोकेन तत्र चेतनाया अननुमीयमानत्वेनाऽस्यालौकिकत्वात् । इत्थम्भूतस्याऽपि लौकिकत्वे स्वर्गनरकादिसाधकस्याऽपि लौकिकत्वप्रसङ्गात् ।

यत् तृकं-काष्ट्रिपिष्टादिषु प्रत्येकमनुपलभ्यमानाऽपि मदशक्तिः सुराकारपरिणतेस्तरिभव्यज्यते यथा, तथा कायाकारपरिणतेभूतेश्वेतनाऽपीति । तदिवचारितसुन्दरम् । यतो मदशक्तिनं काष्ट्रिपिष्टादिवस्तुस्वरूपं, सुराकारपरिणाम-पूर्वदशायामपि तस्य सत्त्वेन तदिभव्यक्तिप्रसङ्गात् । न चाऽतीन्द्रियेव काचित्, तत्साधकप्रमाणाभावात् । न च भवद्धिः प्रागनुपलभ्यमानाऽपि तस्या अभिव्यक्ति-रङ्गीक्रियत एव समुदायदशायामिति वाच्यम्, काष्ट्रपिष्टादीनां मदशक्ताविभव्यञ्च-कत्वासिद्धेः । विद्यमानं हि वस्तु येन प्रकाश्यते तदिभव्यञ्चकं, यथाऽन्धकारदशायां घटादेः प्रदीपादि । न च मदशक्तिरिप विद्यमाना, प्रमाणाभावात् । तत् कथं काष्ट्रपिष्टादीनां तदिभव्यञ्चकत्वं ? किन्तु तज्जनकत्वम् । तत्सामग्रीसमावेशे तदुत्पत्तेर्दर्शनात्, मृत्पिण्डादिसामग्यां घटवत् । तन्न तदृष्टान्तेन चेतनाया अभिव्यक्तिः सिद्ध्येत ।

यदाँप - 'यथा नीलता प्रत्येकमनुपलभ्यमानाऽपि तन्तुसमुदाये उपलभ्यते तथा चेतनाऽपि' - इति कश्चित्, तत् तुच्छम् । नीलतायाः पटादिषूपलभ्यमानायाः प्रत्येकमपि तन्तुपश्मादौ दर्शनात् । नह्येवं चेतनाऽपि प्रत्येकमुपलभ्यते, येनाऽयं दृष्टान्तः सम्यक् स्यात् । तदुक्तं ''नीलादितुल्यताऽपि च प्रत्येकमदृष्टतोऽयुक्तेति'' ।

किञ्च, चैतन्याभिव्यक्तियंदि कायाकारभूतकारणिका तिहं मृतकायेऽपि कथं न स्यात् ? । न हि घृतसंयोगादिकारणिका कुङ्कुमादिगन्धाभिव्यक्तिर्घृत-संयोगवत्यपि कुङ्कुमादौ न भवति । तत्र तथाविधभूतानां चेतनाया अभिव्यञ्जकत्वम् ।

अपि च, आवृतस्यैवाऽभिव्यक्तिरभिव्यञ्जकसत्त्वे भवति, न च नावृतस्य, तथाऽदर्शनात् । एवं च कायाकारहेतुषु अकायाकारेषु भूतेषु चैतन्यं केनाऽऽवृतं ? इति निर्वचनीयम् ।

कायाकारपरिणामाभाव एवाऽऽवरणं इति चेत्-न, अभावस्य सकलशक्तिविकलतया आवरणादिक्रियाकारित्वायोगात् । तदकारकस्य चाऽऽवरणत्वानुपपत्तेः, अतिप्रसङ्गात् । न च भावभूतमेव किञ्चिदावरणं. भृतचतुष्टयातिरिक्तस्य भावस्य स्वीकारेऽपसिद्धान्तप्रसङ्गेन भूतचतुष्टयमध्यादन्यतरदेव तत् त्वया वाच्यं, तस्य च नावरणत्वं, व्यञ्जकत्वाङ्गीकारात् । आवरणत्वे वा न कदाचिदपि तदिभव्यज्येत, कायाकारस्य तित्रिमित्तकत्वेन तस्य सर्वदा सत्त्वात्।

किञ्चेदं चैतन्यं यदि भूतेभ्यो व्यतिरिक्तं तदा सिद्धमेवाऽस्माकिमष्टं. नाममात्रविपर्ययेणाऽऽत्मनोऽभ्युपगमात् ।

अथाऽव्यतिरिक्तं तत् तु न युक्तं, भूतिनश्चयेऽपि हर्षविषादादिरूपचैतन्य-स्याऽनिश्चयात् । निह यस्मित्रिश्चीयमानेऽपि यत्र निश्चीयते तयोरप्येक्यम्, अतिप्रसङ्गात् । उक्तं च- "यस्मित्रिश्चीयमानेऽपि यत्र निश्चीयते न तयोरैक्यमेव, यथोष्णत्व-कठिनत्वयोः । न निश्चीयते च शरीरे निश्चीयमानेऽपि चैतन्यं, ततो नाऽनयोरैक्यमिति" । न चाऽसिद्धिः । तथाहि- अस्ति खलु चैतन्यस्य हर्षविषादादि अनेकं रूपमनुभवसिद्धं, भूतानां काठिन्यादिवत् । तच्च शरीरे निश्चीयमानेऽपि न निश्चीयते, तत्प्रतिपक्षस्य संशयस्याऽसकृद्दर्शनात् । विरुद्धधर्मसंसर्गेऽपि यदि न भेदस्तदा पृथिव्यादीनामप्येक्यमापद्येतेति पृथिवीप्राप्तौ जलप्राप्तिरिष स्यात् । तथा च न काचित् कामिनी कुचकुम्भभारिखन्ना कुम्भमादाय सलिलार्थं सरसीमिभव्रजेत्, इति अयत्नेनेव सर्वार्थसिद्धं स्यात्, सर्वार्थासिद्धिरेव वेति महदसमञ्जसं स्यात् ।

अथ भिन्नाभिन्नं भूतेभ्यः चैतन्यं, तन्न सङ्गतम् । भिन्नं हि यदि भूतेभ्यश्चैतन्यं तदा कथमभिन्नम् ? अथाऽभिन्नं कुतस्तर्हि भिन्नम् ? विरोधात् । कथञ्चिद्धेदाभेदपक्षे त्वविप्रतिपत्तिरेव । अस्माभिरपि शरीरस्य आत्मना सह कथञ्चिदभेदाभ्युपगमात् ।

भवतु वा प्रत्येकं भूतेषु चैतन्यं, तथाऽपि कथं तदेकं स्यात् ? भिन्नभिन्नवस्तुधर्मत्वात्, भिन्नाभिप्रायपुरुषसमुदायचैतन्यवत् । भिन्नाभिप्रायतया तेषां 'अहं ददामि अहं करोमी' त्यादिरूपविशिष्टैकमानसिकानुभवनिबन्धनत्वेनाऽ-वस्थानाभावप्रसङ्गात् । यश्च भवति सकलप्राणिप्रसिद्धः प्रत्येकं सकलैरपीन्द्रियै-रूपलम्भो-'रूपं पश्यामि, मधुरमास्वादयामी'त्याद्याकारः सकलशरीराधिष्ठात्रेकरूपः कालान्तरे स्मृतिजनकः सकलेन्द्रियोपलम्भः सोऽपि चैतन्यस्य नानात्वपक्षे न स्यात् ।

न ह्यत्यन्तासन्नानामि पुंसां मिथोऽपि भिन्ने चैतन्ये एकस्मिन् रूपं पश्यित अन्यस्याऽपि 'रूपमहं पश्यामी'त्याद्याकारं ज्ञानं जायमानमुपलभ्यते. न वा तत्प्रभवं कालान्तरं स्मरणमि । अनुभूयते चेदमुभयमि देहे स्वसंवेदनप्रत्य-क्षेणित् न प्रतिषेधोऽप्यस्य कर्तुं शक्यो, भूतानामि प्रतिषेधापत्तेः । तस्मान्न भूतेषु प्रत्येकं चैतन्यमिति ।

न च भूतसमुदाय एव चैतन्यमस्त्वित वाच्यं, प्रत्येकमसतः समुदायेऽप्यसत्वात् । तत्समुदाय एव परलोकगामित्वभावात् । तस्मात्र प्रत्येकं भूतानां धर्मश्चेतन्यं, नाऽपि तत्समुदायस्य । न च धर्मोऽप्ययं धर्मणमन्तरेणोपपद्यत इति धर्मिणा भवितव्यमवश्यम् । यश्चाऽस्य धर्मी स एवाऽऽत्मा । तत् सुष्टू(ष्रू)कं-अवग्रहादिज्ञानानां प्रत्यक्षत्वेन प्रत्यक्ष एवाऽऽत्मेति । धर्माणां धर्मिणमन्तरेणा-ऽनुपपद्यमानतया, भूतानां तद्धमित्विनिरासेनाऽऽत्मन एव तद्धमितया प्रत्यक्षत्वस्य प्रामाणिकत्वात्, धर्मधर्मिणोः कथिञ्चदभेदात् ।

ननु वस्त्वन्तरमेव चैतन्यस्य धर्मि भवतु, न पुनरात्मेति चेद्-भ्रान्तोऽसि । यदेव वस्त्वन्तरं चैतन्यस्य धर्मिभूतं तस्यैवाऽऽत्मशब्देनाऽभिधानात्, भूतातिरिक्तचैतन्यसिद्धौ नामविवादस्य निरर्थकत्वात् ।

केचित् तु. न प्रत्येकं भृतानां धर्मश्चेतन्यं. नाऽपि तत्समुदायस्य. किन्तु स्वतन्त्रमेव धर्मि, उत्पद्यते च तद् भृतेभ्यः, इत्याहुः । तत् 'चत्वार्येव भूतानि तत्त्वम्' इति सिद्धान्तोक्तत्त्वसङ्ख्यानियमव्याघातकत्वादुपेक्ष्यम् । तदुक्ततत्त्वाना-मुपलक्षणत्वे तु नाऽऽत्मप्रतिषेधोऽपि युक्तो, प्रामाणिकत्वात् । नामान्तरेणाऽऽत्मन एव स्वीकाराच्च । भूतेभ्यश्च यथा तन्नोत्पद्यते तथा वक्ष्यते ।

अथ वदन्ति - मा भवतु प्रत्येकावस्थायां भृतेषु चैतन्यं, तत्साधक -

46 July-2002

प्रमाणाभावात् । असतश्च नाऽभिव्यक्तिभीवतिति मा भृत् कायाकारपरिणतभूते-भ्यस्तस्याऽभिव्यक्तिः । उत्पत्तिस्तु भिवष्यति, असतोऽप्युत्पत्तेः । तदुक्तं कायाकार-प्राणाषानपरिग्रहवद्भ्यो भूतेभ्यस्तदुत्पद्यते नाऽविशिष्टेभ्य' इति । न च प्रत्येकावस्थायामविद्यमानस्य समुदायावस्थायामपि भूतेभ्यश्चैतन्यस्योत्पत्तिर्नं भवेत् इति वाच्यं । प्रत्येकावस्थायामविद्यमानाया अपि गुड-धातक्यादिभ्यो मदशके-रुत्पत्तेः । न चाऽनुपपत्तिः, दृष्टेऽनुपपत्तेरभावात् । तदुक्तम् 'न दृष्टेऽनुपपन्नते'ति । न च चैतन्यं यदि असदेवोत्पद्यते भूतेभ्यस्तदा खरिवषाणमपि तत उत्पद्येत, असत्त्वाविशेषादिति वाच्यम् । भूतानां तज्जननस्वभावतया तस्यैव तेभ्य उत्पत्तेः ।

न च 'भूतानां चैतन्यजननस्वभावत्वे घटादाविष चैतन्योत्पत्तौ चेतनाचेतनव्यवहारिवलो[पा]पत्तिः, न चाऽयं व्यवहारोऽभिव्यक्तान- भिव्यक्तचैतन्यनिबन्धनो न तु तत्सत्त्वासत्त्वनिबन्धन इति । सत्यिष घटादौ चेतन्ये न चेतनत्वेन व्यवहारः, तच्चैतन्यस्याऽनभिव्यक्तत्वात् । यदुक्तम्- 'चैतन्या- निभव्यक्तिर्घटादिषु, कारणाभावात्, पांश्वादिषु अनिभव्यक्तमदशक्तिवत् । चैतन्याभिव्यक्तेर्हं कारणं क्षित्यादेः कायाकारपरिणतत्वं, मदशक्त्यभिव्यक्तेः पिष्टोदकगुडधातक्यादिपरिणतत्ववत् । तच्च घटादिषु नाऽस्तीति तदनभिव्यक्ति- भावस्तत्र, पांश्वादौ पिष्टोदकादिपरिणामाभावान्मदशक्त्यनभिव्यक्तिभाववदिति ।' इत्यपि वक्तुं शक्यम् । घटादौ चैतन्यस्याऽनभिव्यक्तेरनुपपत्तेः ।

तथाहि- अनिभव्यक्तिः खलु आवृतस्य भवित न त्वनावृतस्य । न च तत्र चैतन्यस्य भृतव्यितिरक्तं किञ्चिदावारकं, चत्वार्येव भृतानि तत्त्विमिति तत्त्वसंख्यानियमव्याधातापत्तेः । न च भृतानामन्यतमस्यैवाऽऽवारकत्वं, तेषां व्यञ्जकत्वेन प्रतिज्ञानात् । न च व्यञ्जकमावारकं, स्वरूपव्याधातात् । न च भृतानामेव विशिष्टपरिणामाभाव आवारकः, तस्य सकलशक्तिविकलत्वेनाऽऽवार-कत्वायोगात् । नो चेत् आवरणिकयाकरणशक्तिमत्तया कुङ्गादिवत् तस्य भावत्वापत्तावपसिद्धान्तभयेन पृथिव्याद्यन्यतमत्वेनैव त्वया स्वीकरणीयतया व्यञ्जक-त्वस्यैवोपपत्तेः । किञ्च, यस्य विशिष्टपरिणामस्याऽभावा (व आ) वारकः स भृतेभ्यो भिन्नो वा स्यादिभन्नो वा ? यदि भिन्नस्तिर्हं 'चत्वार्येव भृतानि तत्त्व' मिति तत्त्वसङ्ख्यानियमव्याधातः, अथाऽभिन्नस्तदा तत्स्वरूपवत् तस्याऽपि सदा भावेन सर्वदाऽभिव्यक्तिप्रसङ्गः ।

अथ परिणामत्वान्नाऽसौ नित्यस्तेनाऽ[सना]तनाकारेण परिणमनस्य परिणामत्वात् न सर्वकाले भवति, सनातनत्वप्रसङ्गात्, किन्तु कदाचिदेव । यदा काले तु भवति तदा भूतेभ्योऽभिन्न एवेत्यदोष इति चेत्, न, कालानभ्युपगमे एवंभूतवाक्यप्रवृत्त्ययोगात् । लोकप्रसिद्धत्वादप्रतिक्षेपार्होऽसौ काल इति चेत्-न, आत्मन्यपि तस्य तुल्यत्वात्, पितृकर्माऽन्यथाऽनुपपत्तेः, तस्याऽपि लोकप्रसिद्धत्वात् । तदुक्तम्-

'पितृकर्मादिसिद्धेश्च, हन्त नाऽऽत्माऽप्यलौकिक' इति ।

तदेवमावारकाभावादनभिव्यक्तचैतन्यानुपपत्तौ, चेतनाचेतनव्यवहारस्य तद्-भावाभावनिबन्धनत्वेन घटादौ चैतन्याभ्युपगमे भवत्येव चेतनाचेतनव्यवहारविलोप-प्रसङ्ग इति वाच्यम् । कायाकारपरिणतभूतेभ्य एवं चैतन्योत्पत्त्यभ्युपगमेन घटादौ तत्परिणामाभावादेव चैतन्यानुत्पत्तेरुपपत्तौ चैतन्याभावाभावनिबन्धनस्य चेतनाचेतन-व्यवहारस्य विलोपानुपपत्तेः ।

न चैवं मरणावस्थायामपि चैतन्यमुत्पद्येत कारणत्वाभिमत-कायाकारपरिणतभूतानां तदानीमपि सत्त्वादिति वाच्यम् । कारणत्वाभिमतपवनस्य तत्राऽभावेन तथाविधभूतसत्त्वस्य तदानीमसिद्धेः । न च वस्त्यादिना तत्र प्रक्षिप्ते पवने चैतन्यमृत्पद्येत, समस्तकारणानां सत्त्वादिति वाच्यम् प्राणापान-लक्षणपवनस्यैव तद्धेतुत्वापगमेन पवनमात्रात् तदुत्पत्तेरनुत्पत्तेः ।

ननु प्राणापानलक्षणपवनाभावान्मृतकाये चैतन्याभावो न तु जीवाभावादित्यत्र कि निगमकं येन वैपरीत्यं न स्यादिति चेत्। न। लाघवस्यैव विनिग[म]कत्वात्। मृतावस्थायां प्राणापानाभावस्य त्वयाऽप्यवश्यमङ्गीकृतत्वेन तत एव चैतन्याभावोपपत्तौ जीवाभावकल्पने गौरवात्। प्राणापानवत् जीवस्योभयसिद्धत्वाभावात्। न च-यद् यस्य कार्यं तत् तदनुरूपं, यथा मृत्पिण्डस्य कार्यं घटो मृत्पिण्डानुरूपः: कार्यं च यदि भूतानां चैतन्यं तर्हि भूतानुरूपं स्यात्, न चाऽस्त्येव, तथेव अमूर्तवोधस्वरूपस्य चैतन्यस्य मूर्तावोधस्वरूपभूतिरनुरूप-त्वाभावात् इति वाच्यम्। शृङ्गादिप शरस्योत्पत्तेर्दर्शनेन कार्यस्य स्वकारणानु-रूपत्विनयमाभावात्। न हि शरस्याऽपि शृङ्गानुरूपत्वं, प्रत्यक्षेण बाधात्। यदि च मूर्त्तत्वादिना रूपेण शरस्य शृङ्गानुरूपत्वमेवेति न वाधस्तर्हि सत्त्वादिना रूपेण चैतन्यस्याऽपि भूतानुरूपत्वमेवेति तुल्यम्। न च भूतानां चैतन्यादत्यन्तविलक्षणत्वात

July-2002

कथं तेभ्यस्तदुत्पत्तिरिति वाच्यम् । लोके भिन्नजातीयादिप कारणाद् भिन्नजातीयस्य कार्यस्य दर्शनात् । न चाऽसिद्धिः, सूक्ष्माप्रदेशपरमाणुभ्यः स्थूलसप्रदेशघटा-देस्त्वयाऽप्युत्पत्तेरङ्गीकारात् । तत् सुनिष्पन्नमेतद् यद् प्राणापानिविशिष्टकाया-कारभूतसमुदायाच्चैतन्यमुत्पद्यते, तदपगमे च विनश्यति । तथा च सुष्ठूक्तम् — "नाऽस्त्येव परलोकगाम्यात्मा, ज्ञानिकयाभ्यां मोक्षः कस्य भविष्यति ? इति व्यर्थं एव तपःप्रभृति कष्टानुष्ठानम्" इति । एवं च

द्राक्षामद्यादिकं पेयं भक्ष्यं मांसादिकं भृशम् । जनन्यादिस्त्रियो भोज्या रूपवत्यो यदा रुचि: ॥१॥ कायध्वंसावसाने हि चैतन्ये कस्य पातकम् ? परलोकोऽपि कस्य स्याद् यद्भयात् तद् विवर्ज्यते ॥२॥

इत्येवंरूपानुसारेण प्रवृत्तिर्विधेया, चैतन्यस्य भूतकार्यतया परलोकगामिनो जीवस्याऽभावात् । न च भूतकार्यत्वं चैतन्यस्याऽप्रामाणिकं, चैतन्यं कायपरिणामापन्नभूतकार्यं, तद्भाव एव भावात् । यद् यद्भाव एव भवति तत् तत्कार्यं, मदशके: सुरापरिणामापन्नमद्याङ्गकार्यत्ववत् । इति प्रमाणस्य सत्त्वात् ।

अत्र वदन्ति - चैतन्यस्य भूतकार्यत्वे कि प्रमाणम् ? न तावत् प्रत्यक्षं, अतीन्द्रियविषये तस्याऽभावात् । निह उत्पन्नमनुत्पन्नं वा चैतन्यं भूतानां कार्यं इति व्यापारे प्रत्यक्षमुपैति, तस्य स्वयोग्यसंनिहितार्थग्रहणरूपत्वात्, चैतन्यस्य चाऽमूर्तत्वेन तदयोग्यत्वात् । न च भूतानामहं कार्यमित्येवमात्मविषयं भूतकार्यत्वं प्रत्यक्षम-वगन्तुमलं, कार्यकारणभावस्याऽन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यत्वात् । व्यतिरेक-निश्चयनिबन्धनस्य चाऽनुपलम्भस्य तत्राऽभावात् । न च तदुभयातिरिक्तः कश्चिदन्वयो तदुभयान्वयव्यतिरेकज्ञाताऽभ्युपगम्यते, आत्मसिद्धिप्रसङ्गात् । नाऽप्यन्यत् प्रमाणं, तस्याऽनभ्युपगमात् । प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं, नाऽन्यदिति वचनात् । अभ्युपगमेऽपि ततो विवक्षितार्थप्रतीत्यसिद्धेः । अधिकृत-चेतन्यवस्तुनोऽतथारूपत्वात् ।

तथाहि-यदि चैतन्यं भूतसमुदायमात्रनिमित्तकं स्यात् तर्हि घटादाविष स्यात्, निमित्ताविशेषात् । कायाकारपरिणाम एव निमित्तविशेषस्तदभावादेव न चैतन्यं घटादौ । तदुक्तम्- 'कायाकारप्राणापानपरिग्रहवद्भ्यो भृतेभ्यश्चेतन्यं नाऽविशिष्टेभ्यः' इति, अतो न दोष इति चेत्, न । आत्माभाववादिमते कायाकारपरिणामस्यैव युक्त्याऽनुपपतेः । कथं कायाकारपरिणामस्य मन्मते युक्त्याऽनुपपत्तिरिति चेत् । इत्थम् । भवन्मते हि कायाकारपरिणामः किं पृथिव्यादिमात्रनिबन्धन आहोस्विद् वस्त्वन्तरिनिमत्त उताऽहेतुकःसङ्गीयते ?। तत्र यद्याद्यः पक्षस्तिर्हं सर्वत्र कायाकारपरिणामप्रसङ्गः, पृथिव्यादिभूतसमुदायस्य सर्वत्र सत्त्वात् । तथाविधसाम्यादिभावसहकारिकारणवैकल्यात्र सर्वत्र तत्परिणाम प्रसङ्ग इति चेत् । ननु सोऽपि साम्यादिभावो न वस्त्वन्तरिनिमत्तः, तत्त्वसंख्या-व्याघातप्रसङ्गात्, किन्तु पृथिव्यादिभूतमात्रनिमित्तकस्तथा च तस्याऽपि सर्वत्राऽविशेषेण भावप्रसङ्गात् कृतः सहकारिकारणवैकल्यमिति ?।

अथ द्वितीयः पक्षस्तद्ध्ययुक्तं, तथाऽभ्युपगमे सत्यात्मसिद्धिप्रसङ्गात् । तथाभृतवस्त्वन्तरयोगादेव हि विशिष्टकायाकारपरिणामभाव उपपद्यते नाऽन्यतस्तथा च सति न कश्चिद् दोष इति ।

अथ तृतीय: पक्षस्तदा सदाऽभावादिप्रसङ्गः ।

''नित्यं, सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणाद्'' इति न्यायात् ।

तन्न त्वन्मते कायाकारपरिणामो घटते । तदभावे तु दूरात्सारितमेव प्राणापानपरिग्रहवर्त्त्वं भूतानामिति साधूक्तं न तथाविधभूतेभ्यश्चैतन्यमुत्पद्यते इत्यत्र किञ्चित् प्रमाणम् ।

किञ्च, प्रत्येकावस्थायामिवद्यमानस्य चैतन्यस्य समुदितावस्थामां भूतेभ्यः कथमुत्पत्तिर्घटते ? एकान्तेनाऽसत उत्पादस्याऽभावात्, भावे वा खरिवषाणमपि तेभ्य उत्पद्येत, असत्त्वाविशेषात् । न च-भूतानां तज्जननस्वभावतया तस्यैवोत्पत्तिर्न खरिवषाणस्याऽपि तज्जननास्वभावत्वात् इत्यपि वाच्यम् । तेषां तज्जननस्वभाव-त्वकल्पनाया अयोगात् । अनुत्पन्नं हि चैतन्यं खरिवषाणतुल्यमित्यवन्ध्यभावतो - ऽविशेषेणाऽसज्जननस्वभावत्वमेव परमार्थतो भूतानां भवेदिति तेभ्यश्चैतन्यस्येव खरिवषाणस्याऽप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् । न च-प्रत्येकावस्थायामिवद्यमानाऽपि समुदितावस्थायां मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिरुपपद्यमाना दृष्टा न पुनः खरिवषाणं, कारणशक्तिनियमात्, तद्वद्वाऽपि स्यादिति वाच्यम् । मदशक्तेः प्रत्येकावस्थायामेकान्तेनाऽविद्यमानत्वासिद्धेः । मदशक्तित्वेन तदानीमविद्यमानत्वेऽपि रूपान्तरेण विद्यमानाया एवोपपत्तेः । अत एव समुदितावस्थायां मद्याङ्गेषु ये गुणास्त्रस्यादय (भ्रम्यादय?)स्ते प्रत्येकावस्थायामपि गुडधातक्यादिषु सामान्यत उपलभ्यन्त इति ।

50 July-2002

प्रत्यक्षसिद्धं चैतन्निहं भवताऽप्यपह्नोतुं शक्यम् । यस्तु प्रत्यक्षसिद्धमप्यर्थमपहनुते तस्य तु शून्यवादिमत एव प्रवेशो युक्तं इति कथं त्विय चार्वाकता चिरस्थायिनी स्यात् ?

न ह्येवं समुदितावस्थायां ये गुणास्ते प्रत्येकावस्थायां भूतेषु सामान्यतोऽप्युपलभ्यन्त इति कथं समुदितावस्थायामपि तेभ्यश्चैतन्यस्योत्पत्तिः स्यात्। निह प्रत्येकावस्थायां सर्वथाऽविद्यमाना स्मिग्धता समुदितावस्थायां सिकताकणेषु केनाऽप्यनुभूयते। न चैतद्दोषभयेन प्रत्येकावस्थायामपि किञ्चिच्चै-तन्यस्वरूपं स्वीक्रियत एवति वाच्यम्। एकेन्द्रियजीवसिद्धिप्रसङ्गेनाऽपसिद्धान्ता-पातात्, चेतनाचेतनव्यवहारविलोपापत्तेश्च।

न चाऽनभिव्यक्तं यत्र चैतन्यं तत्राऽचेतनव्यवहारोऽन्यत्र तु अपर इति वाच्यम् । अनभिव्यक्तचैतन्यस्य त्वयैव तिरस्कारात्, अपलापे प्रतिज्ञासंन्यास-निग्रहापातात्, प्रमाणाभावेन तत्रिरासस्य सुकरत्वाच्च ।

किञ्च, कायाकारपरिणतभूतेभ्यो यद्यसत एव चैतन्यस्योत्पत्तिः, कथं तर्हि मृतकायादिप तस्योत्पत्तिर्न स्यात् ? ननूक्तमेवैतत् प्राक् यत् प्राणापानलक्षण-पवनाभावात् तत्र चैतन्यं मोत्पद्यत इति, इति चेत् । ननु प्रत्युक्तमपीदं तदैव यज्जीवाभावादेवेति किं न स्यादिति अहो अहो विस्मरणशीलत्वमाचार्यस्य यदुक्तमिप लाघवं विनिगमकतया न स्मर्गत, भव्यलाघवमेव तवेत्थं वदतो जानामि ।

उभयसिद्धोऽपि प्राणापाना[भा]वो जीवाभावमन्तरेणोपपद्यते यत: । कथमेवमिभधीयत इति चेत्, शृणु सावधानमनाः । निह मृतकाये प्राणापानाभावो निर्हेतुकः, सदाऽभावप्रसङ्गात् । नाऽपि कायाकारिनिमित्तकः, जीवदवस्थायामिप तस्य सत्त्वेन तदभावप्रसङ्गात् । नाऽपि कायाकारिप्वंसिनिमितः तस्य तदानीम-सत्त्वात् । न चाऽऽन्तरपुद्गलापगमनिमित्तो, निमित्तमन्तरेणाऽऽन्तरपुद्गला-पगमस्याऽप्यसम्भवात् । न च कालविशेष एव निमित्तं, अतीन्द्रियकालाङ्गीकारे आत्मानङ्गीकारस्य स्वकदाग्रहमात्रफलत्वात् । तस्मित्रपि काले क्वचच्छरीरे प्राणापानाभावस्याऽदर्शनात् । निह यद् यस्य कारणान्तरिनरपेक्षं अजनकं तत् तत्रोत्पादयित, अकारणत्वप्रसङ्गात् । किन्तु अनन्यगत्या जीवाभावनिमित्तक एव तत्र प्राणापानाभावो भवताऽप्यवश्यं स्वीकरणीय इति कृतः प्राणापाना-

अनुसंधान-२० 51

भावस्यैवोभयसिद्धता, येन लाघवात् प्राणापानाभावादेव मृतशरीरे चैतन्याभावो न तु जीवाभावादिति प्रोच्येत ! 'तद्धेतोरेवाऽस्तु किं तेने'ति न्यायेन प्राणापाना-भाविनिमत्तकजीवाभावादेव तत्र 'चैतन्याभावस्य स्वीकरणीयत्वाच्च, अन्यथा गौरवप्रसङ्गात् ।

एतेन-'प्राणापानवज्जीवस्योभयसिद्धत्वं नाऽस्ति-इति परास्तं । जीवमन्तरेण प्राणापानलक्षणपवनस्याऽहेतुकत्वापत्तौ सदाभावादिप्रसङ्गात् । कायाकारस्यैव प्राणापाननिमित्तकत्वे मृतकायेऽपि तदुत्पत्तिः, पुनरुज्जीवनापातात् । अत एव सुप्तप्रबुद्धस्य दृश्यते तावच्चैतन्यं, न च तत् तदन्यचैतन्यपूर्वकं, सुषुप्तावस्थायां चैतन्यस्याऽभावात् । उपलभ्यस्य सतस्तदानीमनुपलम्भात् । तथाऽपि चेतत्कल्पना तर्ह्यतिप्रसङ्गः । न चाऽहेतुकं तत्, सदाऽभावादिप्रसङ्गात् । 'सदा सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात्' इति वचनात् । नाऽप्यन्यनिमित्तं, तस्याऽप्रतीयमानत्वात् । किन्तु कायनिमित्तमिती'ति कस्यचिन्मतमपास्तम् । चैतन्यस्य कायनिमित्तत्वे मृतावस्थायामपि उज्जीवनप्रसङ्गात् ।

न चैवं सुप्तप्रबुद्धचैतन्यस्य निर्हेतुकत्वे पूर्वोक्तदोषापत्तिरिति वाच्यम् । अस्य सुषुप्तावस्थाभाविचैतन्यपूर्वकत्वेन निर्हेतुकत्वाभावात् । न च सुषुप्तावस्थायां तत्राऽस्त्येव, स्वसंवेदनमात्रस्याऽव्यक्तस्य तदानीमप्यनुभूयमानत्वात् । अविगानेन तथा लोकप्रसिद्धेः । प्रतिपत्तव्यं च नियमात् सुषुप्तावस्थायां चैतन्यमस्तीति, स्मरणान्यथानुपपत्तेः । तथाहि-स्वप्नादिसुषुप्तावस्थाभाविस्वप्नादिचैतन्यविषयं स्मरणम्विगानेनाऽनुभूयते । न चाऽननुभृतस्य स्मरणमुपपद्यतेऽतिप्रसङ्गात् । न च कायान्वयहेतुकतैवाऽस्य, तथाऽप्रतीतेः । तत्स्वरूपसंस्पर्शिस्मृत्यनु(न)नु भूतेः, तथाऽपि चेदेवं कल्पना तर्हि कुतो नाऽतिप्रसङ्गः ? । न च तथास्वभावत्व-सामर्थ्यात् कायादेव तस्मरणमिति वाच्यम् । तस्य तथास्वभावसिद्धौ मानाभावात् । तद् युक्तमिदं यदनुभृतसुषुप्तावस्थाभाविचैतन्यविशेषनिबन्धनं तत्स्मरणमिति सिद्धं सुषुप्तावस्थायामपि चैतन्यमपि(पी)ति कुतः सुप्तप्रबुद्धचैतन्यस्य कायनिमित्तकता स्यात् ? ।

किञ्च न व्यस्तकायस्य चैतन्यं प्रति हेतुत्वमभ्युपगम्यते भवता, शिरश्छेदेऽपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्, किन्तु समस्तकायस्य । तच्चाऽयुक्तं, अङ्गुल्यादि-छेदेऽपि चैतन्यस्योत्पत्तिदर्शनात् । अपि च, यद्यपि चैतन्यं प्राणापानकायाकारपरिणतभूतेभ्य उत्पद्यते तथाऽपि सहकारिकारणभूतेभ्य एव । तथा चाऽस्योपादानकारणं किञ्चिद् वाच्यं, निरुपादानस्योत्पत्तेरयोगात् । उपादानं च यदि तथाविधभूतसमुदायव्यतिरिक्तं किञ्चिद् वस्तु तदा प्रागुक्तस्य 'चैतन्यं तथाविधभूतसमुदायमात्रादुत्पद्यते, तद्भाव एव भावादि'त्यस्य चैतन्ये भूतकार्यताप्रसाधकस्य प्रमाणस्य स्फुटमिसद्धत्वम्, तथाविधभूतसमुदायभावेऽपि तद्भ्यतिरिक्तोपादानाभावे चैतन्यस्यऽभावात् । अथाऽसिद्धिपरिहारार्थं तथाविधभूतसमुदायस्यव चैतन्यं प्रत्युपादानत्वमङ्गीकुरुषे तर्हि चैतन्यस्य भूतानुरूपता प्रसज्येत, कार्यस्य स्वोपादानकारणानुरूपत्वनियमात् । अन्यथा, कार्यकारणभावव्यवस्थानुपपतेः । न चेष्टापत्तः, मूर्त्यादिविरिहत-याऽनुभूयमानस्य चैतन्यस्य मूर्त्यादिमता तथाविधभूतसमुदायेन सहाऽनुरूपत्वाभावात् ।

अथ प्रागेवोक्तं यत्-कार्यं स्वोपादनकारणानुरूपं इति नियमो नास्त्येव, शृङ्गादिपि शरस्योत्पत्ते: । न हि शरोऽपि शृङ्गानुरूप इति । तदयुक्तं, शरतया परिणममानस्य शृङ्गैकदेशस्य भूतसमुदायत्वेनाऽनुभूयमानतया भूतसमुदायत्वेनाऽनुभूयते, शृङ्गेण सहाऽनुरूपत्वस्यैव सत्त्वात् । न हि चैतन्यमिप भूतसमुदायत्वेनाऽनुभूयते, मूर्त्यादिविरहात् । अथ मूर्त्यादिविरहितमिप चैतन्यं तथाविधभूतसमुदायो-पादानकमस्तु, बाधकाभावात् इति चेत्, नः तथा सित कार्यस्य कारणधर्माननुगमेन कारणादत्यन्तभेदेऽत्यन्तासत एव तस्योत्पत्तिरभ्युपगता स्यात् । अस्त्वेविमिति चेत्, असत्त्वाविशेषात् पञ्चमभूतस्याऽप्युत्पत्तिरभ्युपगन्तव्या स्यात् । एवमप्यस्तु इति चेत्, असद्पादानकत्वेन कूर्मरोमभ्यो जायमानाया इव रज्जोरसत्त्वमेव तस्य स्यात् । असत्त्वमप्यस्तु इति चेत्, न, स्वसंवेदनप्रत्यक्षेणाऽनुभूयमानस्य चैतन्यस्य प्रतिषेद्धमशक्यत्वात्, शक्यत्वे वा भूतानामिप प्रतिषेधप्राप्तौ शून्यवादस्यैवाऽसमञ्जन्यस्वापातात् ।

न च शून्यतैवाऽस्तु तत्त्वं, प्रतिज्ञाभङ्गप्रसङ्गात् । **चार्वाक**मत[्]त्र्वंसवत् तन्मतस्याऽपि जैनैध्वंसियतुं शक्यत्वात् । तन्नाऽस्त्येव बाधकाभाव इति कथं मूर्त्यादिविरहेऽपि चैतन्यं तथाविधभूतोपादानकं स्यात् ? ।

अथ भूतकार्यत्वेऽपि यथा घटपटादीनां वैचित्र्यं स्वभावकृतं दृष्टं तथा चैतन्यस्याऽपि अन्यकार्येभ्योऽत्यन्तवैलक्षण्यं स्वभावकृतं स्यात् तदा को दोषः अनुसंधान-२० 53

स्यादिति चेत्, न, भृतकार्यत्वे चैतन्यस्याऽमृत्यिदिरनुपपत्तेः । तथ्माविधस्वभावकल्पने कोशपानादन्यस्य प्रमाणाभावात् । न हि घटादीनामिप वैचित्र्यमेकान्तेन स्वभावकृतं, कार्यकारणभाविवलोपापत्तेः । किन्तु कारणवैचित्र्यकृतम् । अत एव नीलतन्तुभ्यो नील एव पट उत्पद्यते, न शुक्लः, उपादानकारणीभूततन्तुसमुदाये शौक्ल्या-भावात् । शुक्लतन्तुभ्यः पुनः शुक्लः एव, न तु नीलः, उपादानकारणीभूतन्तुसमुदाये नैल्याभावात् । तदुभयमिप मूर्त्ते तु भवत्येव, उभयोपादाने मूर्त्तत्वस्य संत्वात् ।

तदेवं यदि चैतन्यं भूतोपादानकं स्यात् तर्हि भूतानां मूर्तत्वेन जडत्वेन विषयापरिच्छेदकत्वेन चैतन्यमपि मूर्तं जडं विषयापरिच्छेदकं स्यात्। न चैवम्। तस्मात्र भवत्येव चैतन्यं भूतोपादानकम्।

न च निरुपादानमपि किञ्चिद् वरिवर्त्ति । अतो य एतस्योपादानं स आत्मा, तत्तद्द्रव्यक्षेत्रादिसामग्रीसापेक्षेणाऽऽत्मनैव तस्य तस्य चैतन्यपरिणामस्य जन्यमानत्वात् ॥

स्यादेतत्-भूतसमुदायोपादानकमि चैतन्यममूर्तं भवतु, मूर्तोपादानकस्य मूर्त्तत्वमेवेत्यत्र मानाभावात् । न च-प्रत्यक्षमेव मानं मूर्त्तकपालादिजन्यानां घटादीनां मूर्त्तत्वस्यैव विलोकनादिति वाच्यम् । घटादीनां तथात्वेऽिष सर्वत्र तित्रयमस्याऽिसद्धेः । मूर्त्तघटाद्युपादानकस्याऽिष रूपादेरमूर्त्तत्वाभ्युपगमात् । रूपादिविशेषो हि मूर्त्तिरिभधीयते । न हि सा रूपादाविष, रूपादौ रूपादेरनङ्गी-कारात् । न चैकान्तेनाऽसतश्चैतन्यस्य कथमृत्पत्तिः स्याद् ? अन्यथा खरविषाण-स्याऽिष सा न कथं स्याद्?इत्यिष मुग्धविप्रतारकं वचनं वाच्यम् । सामग्यधीना ह्युत्पत्तिवस्तुनः इति खरविषाणं सामग्या अभावात्र भवति, चैतन्यं तु भविष्यित, सामग्याः सत्त्वात् । दृश्यते च दण्डादिसामग्रीसद्धावेऽसत्रेव घट उत्पद्यमानो, न पुनः पटः दण्डादेः पटसामग्रीत्वाभावात्, पर्यायेण व्यभिचाराच्च । तस्य त्वयाऽप्येकान्तेनाऽसत एवोत्पत्त्यभ्युपगमात् ।

तत्र । मृत्तंघटाद्युपादानकस्य रूपादेरकान्तेनाऽमूर्त्तत्वाभावात्, उपादेयस्य उपादानात् कथञ्चिदभिन्नत्वेन तन्मूर्त्ततया कथञ्चित् तस्याऽपि मूर्तत्वात् । निह घटादेरुपादानादुपादेयत्वाभिमतं रूपादि एकान्तेन भिन्नं, पवनस्येव घटादे- नीरूपत्वप्रसङ्गात् पवनस्याऽपि वा घटादेरिव रूपवत्त्वापत्तेः । भिन्नं हि तदूपं घटादेरेव, न पुनः पवनस्योऽप कं नियामकं स्यात् ?, उभयन्नाऽऽपत्तेरविशेषात् ।

नीरूपाच्च घटाद् यदि तदुत्पत्तिस्तिहं पवनादिप किं न स्यात् ?, उभयत्र विशेषाभावात् । न च भेदेऽपि समवायो नियामकः इति वाच्यम् । तस्य त्वयाऽनङ्गीकारात् । अङ्गीकृत एवाऽयं नैयायिकैरित्यस्माभिरप्यङ्गीक्रियते । न हि ते न न्यायविद इति चेत्, न, तित्ररासोऽपि नाऽस्माकं दुष्करः, परं तदर्थमिह न यतिष्यामहे, सिसाधियषाविषयस्याऽऽत्मलक्षणार्थस्याऽयत्नेनैव सिद्धेः । नैयायिकानां न्यायवित्त्वमङ्गीकुर्वता भवता आत्मनोऽभ्युपगतत्वात् । तस्मात्रैकान्तेन रूपादि स्वोपादानाद् भित्रं किन्त्वभित्रमपीति सिद्धं मूर्त्तोपादानकस्य रूपादेरिप मूर्त्तत्वं कथिश्चत् ।

अथ भृतकार्यत्वेऽपि रूपादेर्यथा कथञ्चिन्मूर्त्तत्वं तथा चैतन्यस्याऽप्यस्त इति चेत् । नूनं उदारान्त:करणोऽसि यदालोच्याऽपि स्वसिद्धान्तहानि न व्यथसे । स्यादादं वदन्तो हि जैना एव सदिस राजन्ते, न पुनर्भवादशा एकान्तवादकदा-ग्रहग्रस्ताः । एवमपि भृतसम्दायाच्चैतन्यस्योत्पत्तेरभावात् । न हि रूपिमव प्रत्येकं भूतेषु सत् चैतन्यं, येन तत्समुदायाच्चैतन्यमुत्पद्येत, नीलतन्तुसमुदा-यात्रीलरूपिमव । न चाऽसदप्युत्पद्यते सामग्र्याः सद्भावादित्यपि वाच्यम् । असत्त्वाविशेषात् सा चैतन्यस्येव खरविषाणस्यैव सामग्री कुतो न स्यात् ? । अवध्यभावेनाऽनुत्पन्नस्य चैतन्यस्य खरविषाणतुल्यत्वात् । न च-दृष्ट एव दण्डादिसामग्य्रा असन्नेव घट उत्पद्यमानो न पुन: पट:, कारणशक्तिनियमादित्यपि प्रागुक्तं कि न स्मर्यत ? इत्यपि वाच्यम् । तदानीमपि घटस्यैकान्तेनाऽसत्त्वाभावात्, घटपर्यायेण तदानीमविद्यमानस्याऽपि मृत्पिण्डरूपेण विद्यमानत्वात् । न हि मित्पण्डादेकान्तेन घटस्य भेदो, येन तदानीं न स्यात् । दण्डादिसामग्रीसमावेशेन घटाकारेण परिणममानस्य मृत्पिण्डस्यैव घटशब्देनाऽभिधानात् । न हि पूर्वाकार-परित्यागेनोत्तराकारस्वीकारादेव वस्तुन भेदः, पितृपुत्रव्यवहारविलोपप्रसङ्गात् । जन्मकालीनपरिणामापन्नभृतसम्दायाद् यौवनकालीनकायपरिणामापन्नभृत-समुदा-यस्यैकान्तभित्रत्वेन जन्मकालेऽसत्त्वात् ।

यदि यौवनकालीन एव भूतसमुदायो जन्मकाले परिणामा-न्तरेणा-ऽऽसीदेवेति न तस्य जन्मकालेऽसत्त्वं, तर्हि घटपरिणामापन्नं भूतकार्यं मृत्पिण्डरूपेण पूर्वमासीदेवेति कथमेकान्तेनाऽसत्त्वम् ? ।

तदप्रामाणिकमेवोक्तं यद् दृष्टस्तावद् दृण्डादिसामग्र्याऽसन्नेव घट

उत्पद्यमान इत्यादि । पटस्तु नोत्पद्यते पटसामग्र्या अभावात्, - तत् तु सत्यमेव, परं यत्राऽप्युत्पद्यते तत्राऽपि कथञ्चित् सन्नेव, न तु सर्वथाऽसन्नित्यादि स्वयमूह्यम्। एकान्तेनाऽसत उत्पत्तेरेव विरोधात्। न च-पर्यायेण व्यभिचार-इत्यपि वाच्यम्। द्रव्यस्यैवाऽनेकशक्तिसमन्विततयाऽस्य तथा भवनेन तस्य सर्वथाऽसत्त्वासिद्धेः।

मृत्पिण्डादेर्हि द्रव्यस्य तथारूपेण भवनाभावे घटादिलक्षणपर्याय-स्याऽदलत्वेनाऽभवनमेव प्रसज्येत । ततो द्रव्यस्य मृत्पिण्डादेरन्यथाभवनमात्रं घटादिपर्यायस्योत्पत्तिरिति न दोषः । न च वाच्यं-यद्द्रव्यस्याऽन्यथाभवनमात्रं तेन व्यभिचारस्तस्याऽसत एवोत्पादादिति । तस्याऽपि कथञ्चिद् द्रव्येन सहाऽभेदतः सर्वथाऽसत्त्वासिद्धेः । प्रभूतं चाऽत्रं वक्तव्यं, तद् भेदाभेदस्थापनास्थल एव वक्ष्याम इति प्ररूप्यते प्रकृतम् ।

तत् सिद्धमिदं यत् सर्वथाऽविद्यमानं चैतन्यं भूतसमुदायात्रोत्पद्यत एव । दृश्यते चोत्पद्यमानमित्यस्योपादानेन भाव्यं, यत् तत्तत्सामग्रीसमावेशात् तत्तच्चैतन्यपरिणामेन परिणमित । न च भूतसमुदय एवोपादानं, एतस्य जडत्वेन घटादेखि चैतन्यपर्यायेण परिणमनायोगात् । इति यदेवाऽस्योपादानं स एवाऽऽत्मा, यिद्वरहान्मृतशरीरे चैतन्याभाव इति । तदिसिद्धिरक्षस्या भिक्षतं तद्भाव एव भावादित्यादिकं प्रमाणं कथं स्वसाध्यं साधयेत् ? भूतसमुदायसद्भावेऽि तदितिरिक्तस्य चैतन्यानुरूपोपादानस्याऽभावे चैतन्यस्याऽभावात् । न च प्राणापानयोरेवोपादानत्वं, तयोरुष्णस्पर्शवत्वेन मूर्त्तिमत्तया तदुपादानस्य चैतन्यस्याऽि मूर्त्तत्वापातात् । किञ्च यद् यस्योपादानं तन्महत्त्वे तदुपादेयस्याऽिष महत्त्वं, तदल्पत्वे च तदुपादेयस्याऽप्यल्पत्वं, यथा घटस्य मृत्पिण्डः । भविति हि मृत्पिण्डस्य महत्त्वे घटस्याऽिप महत्त्वं, तदल्पत्वे च तस्याऽप्यल्पत्वम् । एवं च यदि प्राणापानलक्षणा पवनः चैतन्यस्योपादानं स्यात् तर्हि तद्बहुत्वे चैतन्यमि बहु स्यात् । न च तदल्पत्वे चतन्यस्य वहत्वात्। न च व तदल्पत्वे चैतन्यस्य। त्यार्वः प्राणापानलक्षणा पवनः चैतन्यस्थायां वैपरीत्यात् । न च तदल्पत्वे चैतन्यस्य वहत्वात्।

अनयैव युक्त्या कायोपादानकत्वमपि निरस्यम् ॥

या पुनः बालकादेः शरीखृद्धो चैतन्यवृद्धिः, सा शरीरस्य चैतन्यं प्रति संसारिदशायां सहकारिकारणतया उदकवृद्धौ अङ्कुखृद्धिवत्, न पुनरुपादानतयाः; तथात्वे नियमेन चैतन्यस्य तद्वृद्धयनुविधायित्वापत्तेः। न चेष्टापितः,

July-2002

योजनसहस्रप्रमाणशरीराणामपि मत्स्यादीनामल्पतरबुद्धित्वात्, तनुशरीराणामपि केषाञ्चित् श्रीवजस्वाम्यादीनामिव सातिशयप्रज्ञाबलशालित्वात् ।

अन्ये तु – पूर्वाकारपित्यागाजहद्वतोत्तराकारोपादानमप्युपादानलक्षणं तनोश्चेतन्यं प्रति नाऽस्त्येव, उ[पा]दानत्वाभिमतशरीरे प्राक्तनाकारपित्यागाभावेऽपि प्रादुर्भवन्नानाप्रकारप्रकर्षरूपचैतन्यविकारोपलम्भादिति न चैतन्यं प्रत्युपादानभावोऽपि वपुषः सूपपाद इति । न चाऽनुपादानात् कस्यचित् कार्यस्योत्पत्तिरुपलब्धचरी, शब्दिवद्युदादीनामप्युपादानत्वे तत्त्वचतुष्टयानन्तर्भावापत्तेः । देहाधिकस्योपादानस्य चाऽभ्युपगमे निःप्रत्यूहा जीवसिद्धः, कायसहकृतादात्म-रूपोपादानात् तथाविध-चैतन्यपर्यायोत्पादप्रसिद्धः, दण्डादिसहकृता-न्मृत्यिण्डरूपोपादानाद् घटादिपर्यायो-त्यादप्रसिद्धिवत् इत्यादुः ।

अथाऽगम्भीरादपि मृत्यिण्डादुत्पद्यते गम्भीर एव घटस्तथाऽबोधरूपादपि तथाविधभूतसमुदायादुत्पद्यतां बोधरूपं चैतन्यं; कार्यस्य सर्वथा स्वोपादानानुरूपत्वं नाऽस्त्येव, घट एव व्यभिचारात् । किन्तु कथञ्चित् स्वोपादानाननुरूपत्वमपि । इष्यते च यदि कथञ्चित् स्वोपादानानुरूपत्वमपि । अन्यथा कार्यस्य सर्वथा कारणधर्मानन्गमेन कारणादत्यन्तभेदेऽसत एवोत्पत्तिरभ्युपगन्तव्या स्यात् । सा च न युक्ता, अतिप्रसङ्गात् । दृश्यते च पृथिवीत्वादिना घटेऽपि मृत्पिण्डानुरूपत्वमेवेति मन्यसे, तर्हि सत्त्व-पदार्थत्वा-दिना चैतन्यस्याऽपि तादृशभृतसमुदायानुरूपत्वमेवेति तुल्यम् । उक्तं चैतत् प्रागेवेति ब्रृषे तदप्यमनोरमम्, इह नाम कार्यं केनचिद रूपेण कारणानुरूपं केनचिच्च कारणाननुरूपं च रूपं इति सर्वसिद्धं, घटादौ तथा दर्शनात् । परं तेनैव रूपेणाऽऽनुरूप्यं अनानुरूप्यं च मार्गणीयं यदूपं कार्यकारणभावनियामकं भवेत् । न च सत्त्वं चैतन्यस्य भूतकार्यत्वे नियामकं, तस्य सर्वभावसाधारणत्वाद्, अन्यथा भावानामभावत्वप्रसङ्गात् । न च सकलसाधारणो धर्म: कार्यकारणभावनियामकः, मूर्त्तत्वस्य घटपटादीनां पार्थिवकार्यत्वे नियामकत्वापातात् । न चैवमेव, जलपरमाण्वादिजन्ये जलसमुदाये पार्थिवकार्यत्वप्रसङ्गात् । पार्थिवकार्यत्वे नियामकत्वेनाऽभिमतस्य मूर्त्तत्वस्य तत्राऽपि सत्त्वात् । किं तर्हि घटपटादीनां कार्यत्वे नियामकं इति चेत् ? पृथिवीत्वमित्यवैहि । तस्याऽबादिषु असत्त्वेन सर्वसाधारणत्वाभावात् । यदि च पृथिवीत्वेनेव घटपटादीनां पार्थिवपरमाण्वादिकार्यत्वे चैतन्यस्याऽपि भृतकार्यत्वे पृथिवी-त्वादिनाऽऽनुरूप्यमिष्यते तिहं घटादिष्विव जीवदेवदत्तशरीरेऽपि चैतन्य-स्याऽभाव एव भवेत्, पृथिव्यादित्वस्य काठिन्याबोधादिस्वभावाविनाभावित्वात्।

ननु न पार्थिवपरमाण्वादिजन्यं चैतन्यं येन पार्थिवत्वाद्यनुगमेन घटादिविव जीवद्देवदत्तशरीरेऽपि तस्याऽभावः स्यात्, किन्तु प्राणापानादिजन्यं इति चेत्। न। तस्य प्रागेव निरस्तत्वात्। मूर्त्तात् प्राणापानादमूर्त्तस्य चैतन्यस्याऽनुत्पत्तेः, अत्यन्तवैलक्षण्यात्। यत् तूक्तं- अत्यन्तवैलक्षण्येऽपि कार्यकारणभावो भवत्येव, सूक्ष्माप्रदेशपरमाणुभ्यः स्थूलसप्रदेशघटादेर्दर्शनादिति। तदवारिपात एव रमणीयं; प्रासादशिखरस्थसौवर्णाभासान्तस्तामाकृतिकलशवत्। तेषां तस्मादत्यन्तवै-लक्षण्याभावात्। निहं ते सूक्ष्मा अपि सन्तोऽमूर्त्ताः, रूपादिस्वरूपात्मकत्वात्। अप्रदेशास्तु न भवन्त्येव, सतः क्वचिदवस्थानसम्भवेन दिग्भागभेदोपपत्तौं नियमतः कथञ्चित् सप्रदेशत्वात्। न चैवं परमाणोः परमाणुत्वं विरुध्येत, तस्य तदन्याल्पतराभावनिबन्धनत्वात्। ततश्चैवं भूतेभ्यः परमाणुश्यः स्थूलसप्रदेश-घटादिकार्यमुत्पद्यत एव, कारणधर्मानुगमेन तस्य तदनुरूपत्वात्। न च द्रवत्व-चलत्व-काठिन्यादयो भूतधर्माश्चैतन्येऽपि सन्ति येन तद्भूतोपादानकं स्यादिति यित्कञ्चिदेतत्।

किञ्च, यदि चैतन्यं कायाकारपरिणतभूतोपादानं तर्हि निपुणतर-शेमुषीककृते कायाकारभूतसमुदाये कथं नोत्पद्यते ? न हि मृत्पिण्डोपादानो घटो निपुणतरशेमुषीककृते मृत्पिण्डे नोत्पद्यते । अथ नोत्पद्यते एव सः, यथा तत्र चक्राद्यभावे; तथा स्त्रीकुक्षिलक्षणस्वकारणीभूतस्थानाभावादिदमपि नोत्पत्स्यते इति चेत् । तत् किं खञ्जरीट-यूकामत्कुणेषु चैतन्याभाव इति वकुमध्यवसितोऽसि ? कारणत्वाभिमतस्य युवतिकुक्षिलक्षणस्थानस्य तत्राऽजातत्वेन सर्वलोकप्रसिद्धेः । न चैवमेव पुरुषेष्वपि, चैतन्याभावप्राप्तेः । अथ तथाविधपरिणामाभावात् तत्र चैतन्याभाव इति चेत् । जीवाभावादेवेति किं नाऽङ्गीकुरुषे ? न हि तत्र प्रमाणम् ।

यत् तु समुदितेभ्योऽपि मद्याङ्गेभ्यः क्वचित् तथाविधपरिपाकाभावाद् यथा न मदशक्तिस्तथा कुशलपुरुषकृतादिप कायाकारभूतसमुदायात् क्वचित्र चैतन्यमिति तत् कथं ? कुशलत्विविशेषणोपादानेनैव तदाशङ्कानिरासात् । न च कुशलपुरुषकृतात् तथाविधभूतसमुदायादुत्पद्यत एव चैतन्यं, परमेश्वरीकृत स्वशरीरमलपुरुषस्य विनायकत्वेन श्रवणादिति वाच्यम् । तस्य त्वयाऽनङ्गीकारात् ।

मृतात् कालिकमृतशरीरे चैतन्योत्पादप्रसङ्घाच्च । प्राणादेरिप कायाकारिनिमत्तकत्वेन भवताऽभ्युपगतत्वात् तस्य तदानीमिप सत्त्वेन जीवाभावमन्तरेण तदभावानुपपत्तेश्च । तेजोभावादेव तदभाव इति चेद्, उपनीते तस्मिन् तत् कुतो न भवेत् ? ।

ननु गाढतरतमः समूहाच्छादितसदने दीपलक्षणस्य तेजस एव सद्भावाद् यदि प्रकाशो भवित तर्ह्यङ्गारावस्थस्य तस्य सद्भावात् कृतो न भवित ? तेजोविशेषस्यैव तत्र हेतुत्विमिति यदि मन्यसे तदत्राऽपि तुल्यम् । इति चेत् । न, विशेषकमन्तरेण विशेषस्याऽनुपपत्तेः । 'विशेषणं विना यस्मान्न तुल्यानां विशिष्टते'ति वचनात् । न हि विशेषकोऽपि त्वया तदितिरिक्तः कश्चिदभ्युपगम्यते, मया प्रदीप इव प्रत्यक्षसिद्धो ज्वालादिर्यथा, तत्त्वसङ्ख्यानियमव्याधातापातात् ।

अस्तु स्वभावकृतं वैशिष्ट्यं, न हि स्वभावेऽपि पर्यनुयोग इति चेत्। न। स्व एव स्वभावः पर्यनुयोगानहीं यदा प्रमाणिसद्धः, यथा वह्नौ दाहकत्वस्वभावः। अन्यथा सर्वोऽपि वादी तत्र तत्र पर्याकुलितचेताः 'स्वभावादित्थमेवेदं न पुनरन्यथा' – इत्युत्तरं विधाय राजसदिस तव जयपताक (?) एव स्यात्। न चाऽत्र किञ्चित् प्रमाणं यत् स्वभावकृतमेव तद्वैशिष्ट्यं, न पुनरात्मकृतिमिति। न चाऽपश्यन्त आत्मानं विप्रलभेम।

किञ्चैवं तस्य तेजसोऽभावे किञ्चिद्पि चैतन्यमुपलभ्येत, गुड-धातक्यादीनामेकतरस्याऽभावेऽपि तदितरसमुदायेऽल्पतरमदशक्तिवत् । न हि तस्यैव त्वया चैतन्यं प्रत्युपादानकारणता स्वीकियते येन तदितरसाकल्येऽपि तदभावात् तदभाव एव स्यात्, मृत्पिण्डेतरसकलसद्भावेऽपि मृत्पिण्डाभावे घटाभाववत् । तथाऽभ्युपगमे वा प्रागुक्तदोषस्य दुरुद्धरतैव स्यादिति न तेजोभावादेव मृतशरीरे चैतन्याभाव इति । किं तर्हि ? चैतन्योपादानाभावादेवेति गृहाण ।

ननु मृतशरीरे चैतन्यं नोत्पद्यते वातादिदोषवैगुण्यादिति चेत् । तन्न चारु । मृतस्य दोषानां(णां) समीभावेन देहस्याऽऽरोग्यलाभात् । तथा चोक्तं-

'तेषां समत्वमारोग्यं क्षयवृद्धी विपर्ययः' । इति ।

ततश्च पुनरुज्जीवनापातात् । अथ समीकरणं दोषानां(णां) कुतो ज्ञायते इति चेत् ज्वरादिविकारादर्शनादित्यवैहि ।

अथ निवर्त्तन्तां दोषाः, न हि तत्कृतं वैगुण्यमपि निवर्तते, व्याप्तेरभावात्; काष्ठादाविग्निनवृत्ताविप तत्कृतश्यामिकाया अनिवृत्तेः, इति चेत्। न। व्याप्तेरभावेऽपि अनुसंधान-२० 59

सुवर्णे इव अग्निनिवृत्तौ द्रवतानिवृत्तिवत् वातादिविकारस्य तन्निवृत्तौ निवृत्ते-रेवोपपत्ते:। अन्यथा चिकित्साशास्त्रस्य वैयर्थ्यमेव प्रसज्येताऽतो महतोऽपि दौर्बल्यादिविकारस्येव मरणविकारस्य युक्तैव निवृत्ति:।

अथ चिकित्साप्रयोगादिष दौर्बल्यादिनिवृत्त्युपलब्धेरपनेयविकारत्वं, असाध्यव्याधेरूपलब्धेरपनेयविकारत्वं चेत्युभयथा दर्शनान्मरणानिवृत्तिः । तदसत् । यत् औषधालाभादायुः क्षयाद् वा कश्चिदसाध्यो विकारो भवति, दोषे तु केवले विकारकारिण नाऽस्त्यसाध्यता । तथा हि- तेनैव व्याधिना कश्चिन्प्रियते कश्चित्रेति नेदं दोषे केवले विकारकारिण घटते, तस्मात् कर्माधिपत्यमेव सुसूत्रम् । न चैतत् परलोकादागतमात्मानं विनेति ।

स्यादेतत् । कायजमेव चैतन्यं, कायिकारे तिद्वकारोपलम्भात् । न चाऽसिद्धिर्जरादौ तथा दर्शनात्, इति चेत् । न । यद् यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत् तद्धेतुकं । न च कायिकारान्वयव्यतिरेकानुविधायि चैतन्यं, कायिकारा-भावेऽपि अप्रीत्यस्वास्थ्यादिभावाच्चैतन्यविकारोपलब्धेः । यदि पुनः कायिकार-निमित्तक एव चैतन्यविकारः स्यात् तिहं अन्यतो न भवेत्, तिन्निमित्तकस्य तमन्तरेण सकृदपि भवनविरोधात्; अन्यथा निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात् । न च-यत्राऽप्यप्रीत्यादिभावस्तत्र देहविकार आवश्यको, जगदौ तथा दर्शनादिति-वाच्यम् । देहविकाराभावेऽपि तथाविधसङ्कल्पवशतोऽप्रीत्यादिभावस्य प्रतिप्राणि स्वसंवेदन-प्रत्यक्षेणाऽनुभवात् ।

वस्तुत(तो) यद्विकारस्य द्वि(वि)कारस्तत् तस्य कार्यमिति व्याप्तिरेव नाऽस्ति । पुत्रशरीरिवकारे मातृशरीरिवकारोपलम्भेन मातृशरीरस्य पुत्रशरीरकार्यत्व-प्रसङ्गात् । सिंहोऽयं, सन्मुखमागच्छितं वा, इति वाक्यश्रवणादेव केषाञ्चिच्चैतन्य-विकारोपलब्धेस्तच्चैतन्यस्य तद्वाक्यश्रवणनिमित्तकत्वापाताच्च । तत्तत्कायजं चैतन्यं, कायसद्भावेऽपि तदितिरिक्तमुपादानं विना तस्याऽभावात् । यच्चाऽस्योपादानं स आत्मा, अत एव न कायाभावेऽभावोऽप्यस्य, सिद्धेषु तथोपलब्धेः ।

न च सिद्धसिद्धौ न मानं, मोक्षसिद्धौ अभिधास्यमानत्वात् । ननु न हि सर्वेषां वादिनां मते मोक्ष: सिद्धोऽस्ति, येन मोक्षदशायां कायाभावेऽपि चैतन्यभावः स्यादिति चेत् । तत् किं सर्ववादिनां मते चैतन्यस्य भूतकार्यता सिद्धा येनैवं वदत्र लज्जसे ? । ततश्च कायसद्भावेऽपि तदितिरिक्तोपादानं विना चैतन्यस्याऽभावात् कायाभावेऽपि सिद्धिदशायां तदुपादानसत्त्वे चैतन्यस्य भावात् असिद्ध एव चैतन्यं कायादुपपद्यते, तद्भाव एव भावान्मद्याङ्गभावे मदशक्तिविदिति हेतुरिति सुष्टूक्तं चैतन्यस्य तथाविधभूतकार्यत्वे न किञ्चित् प्रमाणमिति ।

किञ्च योऽयं मदशक्तिदृष्टान्तस्त्वयोच्यते तत्र किञ्चिच्चर्च्यते । तथाहि, मदशक्तिर्हि किं मद्याङ्गसमुदायरूपे मद्ये उत मद्यभाजने उत तत्पानकर्तिर भवता स्वीक्रियते ? नाऽऽद्यः, तथात्वे मद्यस्याऽपि कदाचिन्मादनप्रसङ्गात् । अत एव न द्वितीयः । तृतीये तु दृष्टान्तस्य साधनविकलतैव, मदशक्तेः पानकर्तृसापेक्षत्वेन यथाकारपरिणत्केवलमद्याङ्गसमुदायादनुत्पत्तेः ।

अथ यथा कुम्भादिगताऽपि देवदत्तसम्बन्धिनी उत्क्षेपादिशक्तिर्देवदत्तस्यैव न तु कुम्भादेः, तथा पानकगताऽपि मद्यसम्बन्धिनी मद्यशक्तिर्मद्यस्यैव, न तु पानकस्येति कथं दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वं इति चेद् । एतावताऽपि स्वोपादानादन्यत्रैव मदशक्तिः स्वकार्यं करोतीत्यायातम् । तथा चेष्टसिद्धिरेवास्माकम्, एतद्दृष्टान्तबलेनैव चेतनाया अपि स्वोपादानत्वाभिमतभूतसमुदायादन्यत्रैव स्वकार्यजनकत्वसिद्धेः ।

कथमेतावताऽभीष्टसिद्धिरिति चेत्- । अहो ! बुद्धितैक्ष्ण्यं । भूतसमुदाया-दन्यस्यैवाऽऽत्मत्वात् ।

हा बुद्धितैक्ष्ण्यं ! न हि पानको मद्यांगसमुदायादितिरिक्तो येनाऽत्र भूतसमुदायादितिरिक्तः कश्चित् सिद्ध्येत्, किन्तु तदन्तर्गत एव । तथा च यथा स्विनिमित्त एव मदशक्तिः स्वकार्यं जनयित, तथा चेतनाऽपीति कथमितिरिक्त-स्यैवाऽसिद्धौ आत्मा सिध्येत् ? ।

हन्त ! तथाऽपि सा मदशक्तिः स्वाश्रयानमद्याद् भित्र एव गता सती स्वकार्यं करोति तथा चेतनाऽपि स्वाश्रयात् कायाकारभूतसमुदायाद् भित्र एव गता सती स्वकार्यं साधियष्यतीति कथं नाऽऽत्मसिद्धिः?स्वाश्रयाद् भित्रस्यैवाऽऽत्मत्वात् । न च मदशक्तिः स्वाश्रयाद् भित्र एव कार्यं करोति, चेतना तु स्वाश्रय एव, स्वभावस्यैव युक्तित्वादिति वाच्यम् । स्वभावस्य विवादास्पदत्वेनाऽयुक्तिताया एव युक्तेः । वस्तुतस्तु मद्ये मदशक्तिनीऽस्त्येव, तथा सित तस्याऽपि कदाचिन्मादनप्रसङ्गात् । किन्तु तत्सम्बन्धात् पानकस्यैव । तथा तथाविधभूतसमुदाये नाऽस्त्येव चेतना, किन्तु तत्संयोगात् तदन्यस्यैवाऽऽत्मन

इति तत्त्वम् ।

यदिष च देवदत्तसम्बन्धिन्यिष उत्क्षेपणादिशक्तिः कुम्भाद्युत्क्षेपणादिगता दृश्यत इत्युक्तं तदप्यसमीचीनम् । तत्राऽपि हि देवदत्तहस्तादिसम्बन्धिवशेषभावतः कुम्भादेखेतिः क्षेणादिपरिणामशक्तिरुत्पद्यते । यतस्तस्योत्क्षेपणादिपरिणामो भवित । न च सा शक्तिस्यत्र सङ्कामित । देवदत्तस्याऽपि स्वपरिणामिवशेषवशात् सा शक्तिरूपयत्र सङ्कामित । येव च यस्य यत्परिणामशक्तिराधीयते तेव तस्य स परिणामः कु(कृ?)त इत्युच्यते; तेव देवदत्तेव कुम्भादिरुत्क्षिप्यते -इत्यादिको लौकिकोऽपि व्यवहार उपपद्यते, यथा मद्येन माद्यत इति । तत्र शक्तेरन्यत्र कथञ्चनाऽपि सङ्क्रमः । सोऽपि चेदभ्युपगम्यते तर्हि प्रतीतिबाधाप्रसङ्गः । व च शक्तेरन्यत्र सङ्क्रमे किञ्चित् प्रमाणमिति च मद्ये मदशक्तिरुत्यद्यते, किन्तु मद्यसंयोगतो जीव एवः दिधसंयोगतो निद्रादिशक्तिवत् । तथा च मदशक्तिरृष्टान्तस्य साधनविकलतैव, केवलमद्याङ्गसमुदयभावे मदशक्तेरभावात् । एवं च भूतधर्मता तत्कार्यता वा चैतन्यस्य । ततश्च पारिशेष्याद् यस्याऽयं धर्मः स आत्मेति प्रतिपत्तव्यम् । तदक्तम्-

अचेतनानि भूतानि न तद्धर्मो न तत्फलम् । चेतनाऽस्ति च यस्येयं स एवाऽऽत्मेति चाऽपरे ॥ इति ।

अथ भूतकार्यत्वसाधकं मानं यथा नाऽस्ति तथा तत्प्रतिषेधकं किमिप नाऽस्ति । न च साधकाभाव एव बाधको, वैपरीत्यस्याऽपि सुवचत्वात् इति चेत्। न । जीवच्छरीरं चेतनाशून्यं, भूतफलत्वात्, घटवत्-इति बाधकप्रमाणस्य सत्त्वात् । न चाऽप्रयोजकत्वं, जीवदेवदत्तशरीरं यदि चेतनाशून्यं न स्यात् ति चेतनावत् स्यात्, यदि च चेतनावत् स्यात् ति भूतकार्यं न स्यात् । कार्यस्य स्वोपादानकारणधर्मानुगमसम्भवव्याप्तत्वेन सचेतनस्याऽचेतनभूतकार्यत्वविरोधात्, -इति विपक्षबाधकसद्भावेनाऽप्रयोजकत्वस्याऽभावात् । यदि कार्यं स्वोपादानकारणधर्मानुयायि स्यात् ति रक्ततन्तुकारणकः पटो रक्तो न स्यात् । न चैतद दृष्टिमष्टं वा, प्रत्यक्षबाधात् । भवित च जीवदेवदत्तशरीरं भूतकार्यं, तस्माच्चेतनाशून्यं, भूतानामचेतनत्वेन प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । न च-दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वं, तत्राऽप्यनिभव्यक्तचैतन्यस्वीकारादिति वाच्यम् । उक्तयुक्तेस्तन्नाऽनिभव्यक्तेरेवा-

ऽनुपपतेः । किञ्च विनाऽपि प्रमाणं यदि तत् तत्र स्वीक्रियते तिहं सर्वं सर्वत्राऽनिभव्यक्तमस्तीति अतिप्रसङ्ग एव स्यात् । न च प्रमाणमपि तत्र त्वया वक्तुं शक्यम्, अतीन्द्रियेऽर्थे ऐन्द्रियकप्रत्यक्षस्य अविषयित्वात् । अतीन्द्रियस्य च तस्याऽनुमानादेखि प्रमाणत्वाभावात् । न च कायाकारेणाऽपरिणतत्वमुपाधिर्मृतशरीरे साध्याव्यापकत्वात् । कायाकारपरिणामस्याऽपि भूतसमुदायमात्रनिबन्धनत्वेन जीवनमन्तरेण तदभावस्याऽप्यनुपपत्तेश्च । भूतानामिवशेषेण घटादाविष तदभाव-प्रसक्तेश्च । न च विशेषको जीवः स्वीक्रियते, विवादपर्यवसानात ।

अथ यथा भूतानां विचित्रस्वभावतया घट-पटादीनां भूतकार्यत्वाविशेषेऽपि प्रतिव्यक्ति संस्थानविशेषो भित्रस्तथा चैतन्यमिप इति चेत् । न । कारणसंस्थानभेदेन तत्र कार्यसंस्थानभेदोपपत्तेः । प्रलम्बपटकारणीभूतेषु तन्तुषु विषमगत्या प्रलम्बत्व-स्योपलम्भात् । न च शरीरकारणत्वाभिमतभूतेषु सामान्येन विषमगत्याऽपि चैतन्यमुपलभ्यते, तत्कथमत्रैव स्यान्नाऽन्यत्र ? विनिगमकाभावेन सर्वत्रभावाभावप्रसङ्गत् ।

अपि च, भूतकार्यमपि जीवदेवदत्तशरीरं चेतनाशून्यं नेत्यत्र किं मानम् ? । न तावत् प्रत्यक्षं, तस्य सिन्नहित-सद्भूत-योग्यार्थविषयत्वेन प्रतिषेधप्रवृत्त्ययोगात् । नाऽप्यनुमानं, तथाभूतानुमानाभावात् । भूतकार्यत्वस्य चेतनाशून्यत्वेन व्याप्तेस्तदभावे भूतकार्यत्वभङ्गप्रसङ्गात् । अथाऽस्तु तथाविधाकारोऽनुमानं इति चेत् । न । तस्य चेतन्यं प्रति कारणत्वाभ्युपगमात् । न च कारणमवश्यं कार्यवद् भवति, प्रतिबन्धवैकल्यसम्भवात् । तदुक्तम्- "नाऽवश्यं कारणानि तद्वन्ति भवन्ती"ति । तत्कथं तदनुमानम् ? । नाऽपि सामग्री अनुमानं, जीवसिद्धिप्रसङ्गात्, जीवमन्तरेण तथाविधसामग्र्या एवाऽसिद्धेः ।

ननु भोः कोविदकुलिशरोमणे ! जे(जी)वद्देवदत्तशरीरस्य चैतन्यशून्यत्व-सिद्धाविप कथमात्मा सिद्ध्यति ? । परिशेषादिति चेत्, न, अप्रसिद्धे धर्मिणि परिशेषस्याऽयुक्तेः । न हि सामुद्रादिके चतुर्विधे नदीपूरेऽप्रसिद्धे तद्दतद्रुतभरणत्वादिषु धर्मेष्वप्रसिद्धेषु तद्दर्शनेन परिशेषानुमानं प्रवर्तते । न चाऽऽत्मनः प्रसिद्धिरस्ति इति चेत् । न ।

न ह्यात्मनो धर्मश्चैतन्यं-इति साधनाय यतामहे येन त्वदुक्तं दूषणं स्यात्। किन्तु अविगानेन प्रतिप्राणि स्वसंवेदनप्रमाणसिद्धं हि चैतन्यं नाऽपह्नोतुं शक्यं, अनुसंधान-२० 63

धर्मादिस्वरूपं च तत्। न च धर्मो धर्मिणमन्तरेणोपपद्यत इत्यस्य धर्मी सिद्ध्यति। यश्चाऽस्य धर्मी स न भूतसमुदायः, आनुरूप्याभावात्। किन्तु तदितिरिक्त एव, पिरशेषात्। यश्चाऽितरिक्तः स एवाऽऽत्मेति सिद्धमेतद् यत् स्वानुरूपान्वियिनिमित्तं चैतन्यमिति स्वानुरूपान्वियिनिमित्ताभावे कार्यकारणिवभागनियमानुपपतेः। प्रयोगश्च-चैतन्यं स्वानुरूपान्वियिनिमित्तं, कार्यत्वात्-घटवत्। निह अत्यन्तासत उत्पादो घटते, अतिप्रसङ्गात्, किन्तु सत एव। तथा च कार्यत्वं हेतोस्तथाभावित्वेन व्याप्यते। तदुक्तं ''न तथाभाविनं हेतुमन्तरेणोपजायत'' इति। स्वानुरूपान्व-यिनिमित्तानङ्गोकारे चाऽसत उत्पादाभ्युपगमप्रसङ्गः। ततो विपक्षाव्यापकवि-रुद्धोपलब्या व्यावर्तमानं कार्यत्वं स्वानुरूपान्वियिनिमित्तत्वेन व्याप्यत इति प्रतिबन्धसिद्धः।

स्यादेतत्, अमूर्त्तस्वानुरूपान्वियिनिमित्तत्वं पक्षे विविक्षितं, घटादौ च कार्यत्वस्य तिद्वपरीतसहचारदर्शनात् विशेषिविरुद्धत्वं हेतोरिति चेत् । न । हेतोर्विविक्षितसाध्यविपरीतसहचारमात्रस्याऽदूषकत्वात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । न हि हेतोर्मूर्त्तस्वानुरूपान्वियिनिमित्तकत्वेन व्याप्तिर्येन तथा स्यात्; किन्तु अविशिष्टेनैव, तस्य च मूर्त्तत्वाङ्गीकारे बाधात् । तथा च न विशेषिवरुद्धत्वं, 'विरुद्धोऽसित बाधन' इति वचनात् । अन्यथा धूमस्याऽपि महानसादौ व्यजनसहकृताग्निसहचार दर्शनात् पर्वते विशेषिवरुद्धतया वह्न्यननुमापकत्वापत्तेः । न चाऽस्माकमेवमपि क्षतिः, कर्मणा सह लोलीभावेनाऽवस्थानतः कथिन्नदात्मनो मूर्त्तत्वाभ्युपगमात् ।

अथाऽस्तु अनुरूपो धर्मी मातृचैतन्यिमिति चेत् । न । तदभावे सुतचैतन्यस्याऽपि अभावप्रसङ्गात् । अन्यथा धर्मत्विविरोधात्, मातृचैतन्यवृत्तितया च सुते तदभावप्रसङ्गात् । न च मा भवतु स धर्मी, कारणं तु भविष्यति, अनुरूपत्वात् । तथा चाऽसिद्धिरेवाऽऽत्मन इति चेत् । न । तत्संस्कारानुवृत्त्यभावेन तत्कार्यत्वविरोधात् । अन्यथा यज्ञदत्तचैतन्यस्याऽपि देवदत्तचैतन्यकार्यत्वप्रसक्तेः । मृत्पिण्डोपमर्देनैव घटोत्पादवत् मातृचैतन्योपमर्देनैव सुतचैतन्योत्पादप्रसङ्गाच्च । यदि पुनर्दीपाद्दीपान्तरोत्पत्तिवन्मातृचैतन्यात् तदुत्पत्तिरिवरुद्धाः, तदा तस्य सहकारिकारणतया सिद्ध एवाऽऽत्माः, अनुपादानस्य वस्तुनश्चाऽभावेनो - पादानस्याऽऽत्मत्वात् । तित्सद्धौ च स एवोपादेयरूपतया परिणमते, तदप्युत्तरोत्तरभावेन । तथा च सततमनुच्छित्या सुरनारकाद्यवस्थालक्षणः परलोकः ।

64 July-2002

किञ्चैवं यूका-मत्कुणादिषु चैतन्याभाव एव स्यात्, लोकप्रतीतिबाधात् ।

अन्ये तु, ज्ञानं क्वचिदाश्रितं, गुणत्वात्-रूपवदित्यन्मानं प्रमाण-माहरात्मसिद्धौ । न चेन्द्रियाणि तद्वन्ति, करणत्वाद् वासीवत् । करणत्वेऽपि यदि ज्ञानवत्त्वं स्यात् इन्द्रियाणां तदा तेषां स्वस्वविषयमात्रग्रहणशक्तिमत्त्वेन परविषये प्रवृत्त्ययोगाद् रूप-स्पर्शविषयमेकाधारं ज्ञानं न स्यात्, स्पर्शग्राहकस्य स्पर्शनेन्द्रियस्य रूपाग्राहकत्वात् । अन्यथाऽन्धस्याऽपि घटमतकाठिन्यादिस्पर्शज्ञाने नीलादिविज्ञान-स्योत्पादप्रसङ्गात् । न च रूप-स्पर्शविषयमेकाधारं ज्ञानमसिद्धं, य एवाऽहं घटं करेण कठिनमनुभवामि स एवाऽहं श्याममपि साक्षात्करोमीत्यनुभवात् । पूर्वानुभृत-स्वशरीररूपादेरन्धत्वदशायामस्मरणप्रसङ्गाच्च । नाऽपि शरीरं तद्वत, जडत्वात्-घटवत् । न चाऽप्रयोजकत्वं, शरीरस्य ज्ञातृत्वे बाल्यान्भृतमातुस्तन्यपानादे-र्वद्धत्वदशायां संस्कारानुदयेन स्मरणाभावप्रसङ्गत् । नह्यननुभृतमपि स्मर्यते, अतिप्रसङ्गात् । न च वृद्धशरीरं अनुभवित्, तस्य तदानीमसत्त्वात् । न च तस्याऽपि कथञ्चित् सत्त्वं, **जैनमत**प्रवेशात् । शरीरस्य भृतसमुदायरूपतया नानात्वेन चैतन्यस्याऽपि नानात्वप्रसङ्गात् । न च भृतसमृदायारब्धमेकमेव शरीरं इति चैतन्यमप्येकं, **नैयायिकमत** एव तादुशावयविस्वीकारातु; त्वन्मते तु नैवं, 'समुदायमात्रमिदं कलेवरं'- इति वचनात् । तत: परिशेषाद् यत्राऽऽश्रितं ज्ञानं स आत्मा । स च न शरीरविनाशेऽपि विनश्यति, वस्तुत: सर्वथा विनाशाभावात् । अविनाशित्वे च क्वचिदस्याऽवस्थित्या भाव्यमिति सिद्ध एव परलोक: । सुखित्व-दु:खित्वरूप: पूर्वकृतकर्मफलोदयवान्-**इत्याहु:**।

एतेन - 'सदा मद्यादिकं पेय' मित्यादि यदुक्तं तन्निरस्तं, परलोकसिद्धौ जुगुप्सितकर्मणां दुःखहेतुत्वेन विवर्ज्यत्वोपपत्तेः ।

किञ्च, प्रमाणं विना न कस्याऽपि प्रतिषेधी, भृतानामिप प्रतिषेधप्रसङ्गात्। तथा च किमात्मप्रतिषेधे प्रमाणं ? न तावत् प्रत्यक्षं, तस्य सद्भूतयोग्यार्थग्राहकत्वेन प्रतिषेधे प्रवृत्त्ययोगात् । तदुक्तम्-

''आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्ध विपश्चित'' इति ॥

अथ प्रत्यक्षं यत्र प्रवृत्तं तत्र प्रवृत्तिव्यवहारं जनयित, यतंश्च निवृत्तं तत्र निवृत्तिव्यवहारं इति चेत्, न । प्रतिषेधविषये विवर्तमानं प्रत्यक्षं परमार्थतोऽ -विद्यमानस् । न चाऽविद्यमानेन वस्त्वभावो गम्यते, खरविषाणस्येवैतस्या- ऽवगमनिबन्धनत्वाभावात् । उक्तं च- ''प्रत्यक्षस्य निवृत्तेरभावनिश्चय इति चेत्-तच्च नाऽस्ति, तेन च प्रतिपत्ति'रिति व्याहतमेतदिति ।

नन् वस्त्वन्तरिवषयं प्रत्यक्षं, नाऽविद्यमानं, किन्त्वात्मानं न गृह्णिति इति आत्मिनिषेधकं केवलभूतलविषयप्रत्यक्षस्य घटनिषेधत्ववत् इति चेत् । न । वस्त्वन्तरेण सहाऽऽत्मन एकज्ञानसंसर्गित्वलक्षणसम्बन्धस्याऽभावात् । तस्या-ऽतीन्द्रियत्वेन । अन्यथा घटस्येव तस्याऽपि देशकालिनिषेध एव स्यात्र पुनः सर्वत्र सर्वदा ।

अथाऽऽत्मविषयकप्रत्यक्षाभाव आत्माभावे प्रमाणमिति चेद् । हतो ऽसि । प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति सङ्गरव्याघात् । अभावस्याऽनिश्चयत्वे -नाऽप्रमाणत्वाच्च ।

अथ किमनेन वाग्विलासेन ? यत्प्रत्यक्षेण नोपलभ्यते तन्नाऽस्ति । न च परचैतन्येन व्यभिचारः, चेष्टादिदर्शनेन तस्य प्रत्यक्षेणोपलम्भादिति चेत् । न । मूर्च्छतादौ चैतन्यस्य प्रत्यक्षेणाऽनुपलम्भेऽपि सत्त्वात् । न च मूर्च्छप्गमेऽन्यदेव चैतन्यं कायादुत्पन्नमिति वाच्यं, मानाभावात् । न च समानमेतत्, पूर्वानुभूत-स्मरणस्यैव मानात् । उपलभ्यते हि मूर्च्छापगमे पूर्वानुभूतस्य स्मरणम्, अविगानेन सर्वेषां तथाऽनुभवात् । चैतन्यं च यदि नैतत्प्राचीनं, कथमेतत्स्मरणं स्यात् ? इदानीमृत्पन्नस्य तदनुभवाभावात् । न चेदं भ्रान्तं, विविधतमर्थं स्मृत्वा प्रवृत्तस्य संवादोपलब्धेः । न च चेष्टादिना चैतन्यं प्रत्यक्षेणोपलभ्यते, तस्याऽतीन्द्रियत्वात्, चैतन्याव्यभिचारित्वस्य तत्र ग्रहीतुमशक्यत्वाच्च । स्वसंवेदनप्रत्यक्षत एव तस्याः स्वशरीरे चैतन्येन सहाऽव्यभिचारग्रहेऽनुमानप्रामाण्य प्रसङ्गात् । अव्यभिचरितार्था-न्तरदर्शनात् साध्यार्थप्रतिपत्तेरनुमितित्वात् ।

किञ्च, 'यन्न दृश्यते तन्नाऽस्ति' इत्येवंरूपोऽविनाभावो न तावत् सिद्धः, सत्यिप वस्तुनि अदर्शनस्य सम्भवात् । कथमन्यथा काष्टाद्यन्तः प्रविष्टा दृश्याज्ञ्वलनाज्ञ्चलनश्चन्द्रकान्तान्तर्गताद् वा तोयात् तोयं व्यक्तीभवदभ्युपगतं भवता । न च दृश्यमानेन्दुकान्तादेखे पार्थिवः ज्वलनोदकाद्युत्पादोऽभ्युपगम्यते । नाऽदृश्यमानादित्यिप वक्तुं शक्यं भवता, सर्वेषां भूम्यादीनामुपादानो पार्देयभाव-प्रसङ्गेनाऽऽर्हताभिमतपुद्गलैकतत्त्ववादापत्त्या तत्त्वचतुष्ट्यवादिवलोपात् । असिद्धौ चाऽविनाभावस्य नाभाव एव, आत्मनः सन्धिग्धविपक्षव्यतिरेकत्वात् । सिद्धश्चेद

हा हतं स्वकीयं मतम्, अनुमानस्य स्ववाचैव प्रमाणत्वाभ्युपगमात् । अविनाभाव-स्मरणसापेक्षं लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानस्याऽनुमानत्वात् ।

अथाऽप्रमाणमप्यनुमानं आत्मप्रतिषेधकमस्त्वित चेत्। न। अप्रमाण-स्याऽयथार्थत्वेन प्रतिषेधकत्वायोगात्। स्यादेतत्, यद्यपि मन्मते नाऽनुमानं प्रमाणं, तथाऽपि त्वन्मते तु प्रमाणमेव । ततश्च प्रमाणत्वेनाऽभिमतात् तस्मात् तवाऽऽत्मप्रतिषेधः स्वीकार्यते इति चेत्। न। वस्तुगत्याऽप्रमाणस्य यथावस्थितार्थ-प्रतिपत्तिनिबन्धनत्वायोगात् । अन्यथा प्रमाण-पर्येषणानर्थक्यप्रसङ्गात्। एतेन परकीयेनाऽपि खड्गेन दृष्ट एव यथा विनिपातस्तथा परमतप्रमाणेनाऽपि आत्मप्रतिषेध इति निरस्तम् । खड्गस्य परिविनिपातनशक्तिसमन्वितत्वेन ततः परिविनिपातोपपत्तेः । न ह्यनुमानस्याऽपि वस्तुप्रमापणशक्तिसमन्वितत्वं येन ततो विविधितवस्तुप्रतिपत्तिः स्यात् । परेण तथा स्वीकियत एवेति चेत् । तृत् किं परिपाप्रयानुयायि वस्तु–इति मन्यसे ? तथा सित काचस्याऽपि कृतः प्रकाशकत्वं न भवति ? परेण तमिस तस्य स्वत्वेन गणनात् ।

अथेष्यत एव स्वार्थसिद्ध्यर्थं अनुमानस्याऽपि वस्तुप्रमापणशक्तिमत्त्वं, तर्हि सिद्धमेवाऽनुमानं प्रमाणं, यथावस्थितार्थवस्तुविषयत्वेन प्रसह्य प्रामाण्योपपत्तेः । न चैवमपसिद्धान्तः, उपचारेण विषयादीनामपि प्रमाणत्वस्वीकारात्, मुख्यवृत्त्या विज्ञानमेव प्रमाणमिति सिद्धान्तात् । वस्तुतस्तु नाऽस्त्येव तदनुमानं यदात्म-प्रतिषेधकम्, अनुपलब्धेरन्यस्य प्रतिषेधे व्यापारायोगात् । इति-सिद्ध एवाऽऽत्मा, तत्प्रतिषेधकप्रमाणाभावात् । प्रत्यक्षानुमानयोस्तत्साधकत्वेन भणनाच्च ।

अथ 'न चाऽनुमानं प्रमाणम्, अनुमानविरोधादिदोषसद्भावादिति' प्रागेवोक्तमिति चेत् । न । साध्यार्थान्यथानुपपत्रलिङ्गनिश्चयबलप्रवृत्तेऽनुमाने- ऽनुमानविरोधादिदोषाभावात् । न हि धूमेन पर्वतेऽग्नौ साध्ये नाऽग्निमान् पर्वतः, पर्वतत्वात्तदन्यपर्वतवदित्यनुमानविरोधस्य, तथा पर्वतो निस्तलनिर्वृक्षप्रदेश-स्थाग्निमान्, धूमात् महानसवदितीष्टविघातकृत्वस्य, पर्वतो नाव्यत्त्या(?)ऽग्निमान्, धूमात् महानसवदिति विरुद्धाव्यभिचारित्वस्य वा दोषस्याऽवकाशोऽस्ति, एषां प्रत्यक्षबाधितविषयतयाऽनुमानाभासत्वेन विविधतानुमानबाधकत्वायोगात् ।

यदप्युक्तं-अनुमानस्य कि सामान्यं विषयो विशेषो वेत्यादि, - तत्रोच्यते । विशेषवत् सामान्यं, अयोगव्यवच्छेदेन प्रदेशविषिष्टस्यैव वहेः पुरुषप्रवृत्तिः प्रति अनुसंधान-२० 67

हेतुत्वात् । न च- देशविशिष्टस्याऽपि वहेर्न साध्यत्वं तेन सममन्वयाभावात् - इत्यपि वाच्यम् । व्याप्तिकाले विह्नमात्रस्यैव विषयत्वेऽपि प्रयोगकाले देशविशिष्ट- वहेरेव विषयत्वात् । प्रतिपाद्यं हि प्रतिपादयता प्रेक्षावता धूमोऽग्निनान्तरीयको दर्शनीय: । यथा यत्र धूमस्तत्राऽवश्यमग्निरिति । स च धूमस्तथा व्याप्तिकाले विह्नमात्रेण व्याप्त: सिद्धः सन् यत्रैव पर्वतादौ स्वयं दृश्यते तत्रैवाऽग्निबुद्धि जनयित नोदध्यादौ, तेन प्रयोगकाले देशविशिष्टो विह्निवषयो निर्दिश्यते । यद्येवं तिर्ह प्रयोगकाले न साध्यनिर्देशो युक्तः, सामर्थ्यनैवाऽनन्तरोक्तेन तस्य गतार्थत्वात् । न । अनन्तरोक्तसामर्थ्यपरामर्शशून्यतथाविधपरव्यामोहनिवृत्त्यर्थत्वेम तस्याऽपि सफलत्वात् । अन्यथा हि तिन्नर्देशाभावे व्याप्तिवचनान्तरं धर्मिणि पर्वतादौ तस्य दर्शनेऽपि अनन्तरोक्तं सामर्थ्यमनुसर्त्तुमशक्तः सन् कश्चित् व्यामुह्येत । अतः परप्रतिपत्त्यर्थं परार्थानुमान प्रयोगाद्यक्तस्तदपेक्षया प्रतिज्ञाप्रयोग इति युक्तमुक्तं विशेषवत् सामान्यमनुमानस्य विषय इति ।

किञ्चाऽनुमानाप्रामाण्ये प्रत्यक्ष-तदाभासयोरिप प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्था न स्यात् । तथाहि- चार्वाकोऽपि कञ्चित् प्रत्यक्षव्यक्तिविविक्षतार्थिकयासमर्थार्थ- प्रापकत्वेनाऽविसंवादिनीरन्याञ्च तद्विपरीततया विसंवादिनीरूपलभ्य तल्लक्षणव्याप्त्या तादृशीनां प्रत्यक्षव्यक्तीनां प्रामाण्यमितरासां चाऽप्रामाण्यमुद्धोषयेत् । न च प्रत्यक्षम- व्यवहितविद्यमान(ना?)विद्यमानार्थग्रहणपर्यवसितसत्ताकतया पूर्वा-परपरामर्शशून्यं सत् सकलकालभाविनीनां प्रत्यक्षव्यक्तीनां प्रामाण्य-निबन्धनमिवसंवादित्व- सामान्यमवबोधियतुमीष्टे । तस्मादवश्यंतया परिदृष्ट-प्रत्यक्षज्ञानव्यक्त्यनुसारेण प्रामाण्यनिबन्धनस्याऽविसंवादिसामान्यस्य प्रत्यायकमनुमानं प्रमाणत्वेनाऽऽ- श्रयणीयम् । अपि च 'अनुमानं न प्रमाणम्'- इति वाक्यस्य सन्दिग्ध- विपर्यस्तान्यतरं प्रत्यर्थवत्त्वात् तयोञ्च परकीययोरप्रत्यक्षत्वात् तदवगमार्थं अनुमानप्रमाण्यस्याऽवश्यमङ्गीकरणीयत्वम् । अन्यथा तदीयसंशय-विपर्यययोरज्ञाने तदवबोधार्थं वाक्यप्रयोगानुपपत्तेः । किञ्च प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यनिमित्तं गृह्यमाणपदार्थान्वयव्यतिरेकानुकरणं, तच्च साध्यप्रतिबद्धलङ्गज्ञान- सामर्थ्यनेदोयमानस्याऽनुमानस्याऽप्यविशिष्टमिति कथं न तत् प्रमाणमङ्गीकियते ?

केचित् तु - अथाऽनुमानं न प्रमाणं, गौणत्वात् । गौणं ह्यनुमानम्, उपचरितपक्षादिलक्षणत्वात् । तथाहि- ज्ञातव्ये पक्षधर्मत्वे पक्षो धर्म्यिभिधीयते । व्याप्तिकाले भवेद् धर्मः साध्यसिद्धौ पुनर्द्वयम् ॥ इति ॥

अगौणं हि प्रमाणं प्रसिद्धं, प्रत्यक्षवद्-इति चेत् । संपिततस्तव स्वारूढशाखामोटनन्यायः, गौणत्वाद्-इति हेतुं प्रमाणत्वेन स्वीकृत्य पुनस्तस्यैव प्रमाणत्वखण्डनात् । न च पक्षधर्मत्वं हेतुलक्षणमाचक्ष्महे, येन तित्सद्धये साध्यधर्मविशिष्टे धर्मिणि प्रसिद्धमपि पक्षधर्मत्वं धर्मिण्युपचरेम, अन्यथाऽनुप-पत्येकलक्षणत्वाद् हेतोः । नाऽपि व्याप्तिं पक्षेणैव ब्रूमहे, येन तित्सद्धये धर्मे तदारोपयेमहि, साध्यधर्मेणैव तदिभधानात् । न चाऽऽनुमानिकप्रतीतौ धर्मविशिष्टो धर्मी, व्याप्तौ तु धर्मः साध्यः -इत्येकत्र गौणमेव साध्यत्विपिति चेत् । मैवं । उभयत्र मुख्यतल्लक्षणभावेन साध्यत्वस्य मुख्यत्वात् । तत् किमिह द्वयं साधनीयम् ? । सत्यं । निहं व्याप्तिपि परस्य प्रतीता, ततस्तत्प्रतिपादनेन धर्मविशिष्टं धर्मिणम्- 'अयं प्रत्यायनीयः' इत्यसिद्धं गौणत्वम् ।

अथ नोपादीयत एव तित्सद्धी कोऽपि हेतुः, तिह कथमप्रामाणिकी प्रामाणिकस्येष्टसिद्धिः स्यादिति नाऽनुमानप्रामाण्यप्रतिषेधः साधीयस्तां दधाति। नाऽनुमानं प्रमेत्यत्र हेतुः स चेत्, क्षऽनुमानताबाधनं स्यात् ? तदा नाऽनुमानं प्रमेत्यत्र हेतुनं चेत्, तत् क्षऽनुमानताबाधनं स्यात् ? तदित संग्रहश्लोकः ।

कथं वा प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यनिर्णय: ? यदि पुनरर्थिक्रयासंवादात् तत्र निर्णयस्तर्हि कथं नाऽनुमानप्रामाण्यं ? प्रत्यपीपदाम च-

प्रत्यक्षेऽपि परोक्षलक्षणमतेर्येन प्रमारूपता,

प्रत्यक्षेऽपि कथं भविष्यति ? न ते तस्य प्रमारूपता''इति,- **इत्याहुः**। चिन्तामणिकारस्तु- अनुमानस्याऽप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्याऽप्यप्रमाणत्वापत्तिः, प्रामाण्यस्याऽनुमेयत्वात् । स्वतः प्रामाण्यग्रहे च तत्संशयाद्यनुपपतेरित्याह ।

अथ यद्यपि किञ्चित् अनुमानं प्रमाणं, तथाऽपि तज्जातीयस्य तत्पुत्रत्वादेः साध्यार्थव्यभिचारित्वदर्शनेनाऽप्रमाणत्वात् न तत्र प्रामाण्यं इति चेत् । नूनं बहुपुत्रत्वं स्वात्मनोऽभिलिषतं त्वया, कुलटाया बहुभर्तृभुक्तत्वेन शीलवत्त्वाभावात्, तज्जातीयतया त्वन्मातुरिप तथात्वात् । नाऽस्त्येव तत्र शीलविश्वास इति चेत्रिणयेऽपि कि नास्त्येव येन स्वमातुरिप कुलटात्वमङ्गीकुरुषे ? । किञ्चैवं प्रत्यक्षमिप न प्रमाणं स्यात्, मरुमरीचिकानिचयविषये जलोल्लेखिनस्तज्जातीयस्य तस्याऽर्थ-

अनुसंधान-२० 69

व्यभिचार-दर्शनेनाऽप्रमाणत्वात् । अथ तत् प्रत्यक्षाभासम्, अतो न तदप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्याऽप्रामाण्यं, विजातीयत्वाद् इति चेत् । तर्हि तत्पुत्रत्वादिकम-प्यनुमानाभासमिति न तदप्रामाण्येऽप्यनुमानस्याऽप्रामाण्यं, विजातीयत्वादित्यिपि तुल्यम् ।

यथाहि यदिन्द्रियसादुण्यादिसामग्रीविशेषसम्पादितसत्ताकं प्रत्यक्षं तत् प्रमाणं, विसंवादाभावात् । इतरतु तदाभासम् । न च तद्बाधने व्याधातो, भिन्नजातीयत्वात् । तथा साध्यार्थान्यथानुपपन्नहेतुदर्शनतत्सम्बन्धस्मरणजनितं यदनुमानं धूमादि तत् प्रमाणं, विसंवादाभावात् ।

इतरत् तु यद्धेत्वाद्यवयवमात्रजिततं तत्पुत्रत्वादि तत् तदाभासं, तस्य साध्यार्थान्यथानुपपत्रत्वाभावात् । न च तद्बाधने प्रमाणत्वाभिमतस्याऽनुमानस्य कश्चिद् व्याधातो, भिन्नजातीयत्वात् । तत् परिहरणीयमिदानीं प्रत्यक्षस्य प्रमाणत्वं, स्वीकरणीयं वाऽनुमानस्याऽपि तद्-इति दुस्तरा प्रतिबन्दितरिङ्गणी । किञ्च नाऽनुमानं प्रमाणं-इति वाक्यं चेत् प्रमाणं तदाऽपिसद्धान्तः । अथ न प्रमाणं तदा समागतमेतद् यदनुमानं प्रमाणम् । तत्प्रामाण्याच्च ततः सिद्ध आत्मा प्रमाणिसद्ध एवेति तत्त्वम् ।

न चैतदनागिमकम्, आगमेऽपि जीवसत्ताया भणनात् । "अत्थि जीवे" इत्यादौ तथा दर्शनात् । अथ न चाऽऽगमः प्रमाणिमत्यादि प्रागेवोक्तिमिति चेत् । अन्यदिप बहूकमासीत्, परं तद् यथाऽयुक्तं तथेदमिप । तथा हि –नाऽन्योन्यं वादिनामसङ्गतत्वाभिप्रायमात्रेण वस्तुनोऽभावः; तस्य स्वकारणकलापनिमित्तत्वात् । निह वस्तु वाद्यभिप्रायनिमित्तं, येन तदसङ्गतत्वेन तदप्यसङ्गतं स्यात् । ततश्चाऽयमप्यागमो यथावस्थितवस्तुप्रकाशनतया स्वयं प्रमाणं सत् परस्परं वादिनामसङ्गतत्वाभिप्रायमात्रेण नाऽप्रमाणं भिवतुमर्हतिः; तदिभिप्रायनिमित्त-प्रामाण्यानभ्युपगमात् । अन्यथा घटादिप्रत्यक्षमि प्रमाणं न स्यात्, अद्वैतवाद्य-भिप्रायेण तस्याऽपि मिथ्यात्वात् । अथाऽस्मदादीनामभिप्रायेण तस्य सत्यत्व-मस्त्येवेति तथैव तद् इति चेत् । तर्हि-अस्मदादीनामभिप्रायेण तस्याऽपि प्रमाणत्व-मत्स्येवेति तथैवेति तदिपि तुल्यम् ।

वस्तुतस्तु एवंभूतानामप्यभाव एव स्यात्, तत्राऽपि बहूनां विप्रतिपत्ते:। तस्माद् भूतानां काठिन्यादिस्वरूपस्येवाऽन्योन्यं वादिनां विप्रतिपत्तेर्नाऽऽगमस्य

प्रामाण्यरूपस्वरूपस्य भ्रंस(श) इति सिद्धं आगमः प्रमाणिमिति । एवं चाऽतः सिद्धो जीवोऽपि सुसिद्ध एवेति । यदप्युक्तं-''कथं 'छिव्विहा जीवा पत्रत्ता' इत्यादिकं जीवास्तित्वप्रतिपादकं वचः प्रमाणम् । 'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानी' त्यादिकं जीवप्रतिषेधकं न प्रमाणं, नियामकाभावात् । तस्मात् सुदृढमेतद् यत्रास्ति जीव इति'' । तदप्ययुक्तम् ।

अतीन्द्रिये विषये हि तदेव वचः प्रमाणं यदिवसंवादि । अविसंवादश्च तदिभिधेयस्याऽर्थस्य प्रत्यक्षस्याऽनुमेयस्य वा प्रत्यक्षेणाऽनुमानेन वा यथाक्रमं ग्रहणं परस्परमञ्याघातश्च । उपलभ्यते चासौ वीतरागवचिस प्रत्यक्षत्वेन, तदिभिहितस्याऽर्थस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणात् । यथा ''से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेऊण तेणं सद्दो ति उग्गहिए । नो चेव णं जाणइ के वेस सद्दे ति(ति) । ततो ईहं पविसइ'' इत्यादिना सूत्रेण शब्दादीनां श्रावणावग्रहादिरूपप्रत्यक्ष-गोचरत्वेनाभिह(हि)तानां तथैव ग्रहणम् । अस्ति चाऽनुमेयत्वेनाऽप्यभिहितस्या-ऽनुमानेन ग्रहणम् । यथा ''सासए असासए जीवे ? । गोयमा ! सिय सासए सिय असासए । से केणट्टेणं भते ! एवं वुच्चइ ? । गोयमा ! त्व्वट्टयाए सासए भावट्टयाए असासए'' । इत्यादिनाऽभिहितस्य नित्यानित्यत्वस्य स्मरणाद्यन्यथा-नुपपत्त्याऽवस्थाभेदान्यथानुपपत्त्या च ज्ञायमानत्वेनाऽनुमेयतयाऽभिमतस्य तथैव ग्रहणम् । परस्पराव्याघातोऽपीह स्फुटोऽस्त्येव, यथा जीवस्य बन्ध-मोक्षाविभिधाय नित्यानित्यत्वविधानम्, एकान्तित्यपक्षेऽनित्यपक्षेऽपि तयोः सर्वधाऽनुपपद्य-मानत्वात् ।

तदेवमविसंवाददर्शनादिदं वीतरागस्य वचस्तावत् प्रमाणमेव । न च वाच्यं वीतरागत्वं कस्याऽपि न सम्भवत्येव । रागादयः कस्यचिदत्यन्तमुच्छिद्यन्ते, अस्मदादिषु तदुच्छेदप्रकर्षापकर्षोपलम्भात्, सूर्याद्यावारकजलद पटलवदित्यनुमानेन तित्सद्धावसम्भवस्य वाङ्गमात्रत्वात् । तदुक्तम्-

> देशतो नाशिनो भावा दृष्टा निखिलनश्वरा: । मेघपङ्क्त्युदयो यद्वदेवं रागादयो मता: ॥ इति ।

यस्य च निरवयवतयैते विलीनाः स एव वीतराग इति । अनादिरागादि-क्षयस्तु तत्प्रतिपक्षभूतरत्नत्रयाभ्यासेन भवत्येव, क्षारमृत्पुटपाकादिना अनादि-सुवर्णमलक्षयवत् । क्षीणरागादेश्च केवलज्ञानाव्यभिचारात् सर्वज्ञत्वं, तित्सद्धौ च प्रमाणं-ज्ञानतारतम्यं क्वचिद् विश्रान्तं, तारतम्यत्वात्, आकाशपरिमाणतारतम्यवत्। यत्र तद् विश्रान्तं स एव सर्वज्ञः । इति तत्प्रणीतं यद् वचस्तत् प्रमाणमेव, अप्रामाण्यप्रयोजकस्य मोहादेस्तत्राऽभावात् । तदुक्तम्-

> रागाद्वा द्वेषाद् वा मोहाद् वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषास्तस्याऽनृतकारणं किं स्यात् ? ॥ इति सिद्ध एव आगमादप्यात्मा ।

यत् पुनः 'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरेन्द्रिय-विषयसञ्ज्ञा' इति, तदप्रमाणम् । जीवाभ्युपगममन्तरेण पृथिव्यादिष्वेव भूतेषु जीवदेवदत्तादिशरीर-घटादिरूपेषु दृष्टस्य सचेतनाचेतनत्वरूपस्य वैचित्र्यस्य सर्वथाऽनुपपद्यमानत्वात् । तथैव प्राक् सविस्तरं दर्शतत्वात् । एवं च 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य' इत्याद्यपि यथाभिप्रायमुपन्यस्तमप्रमाणमवगन्तव्यम् । यथा पुनरेतदेव वाक्यं विद्वांसो व्याकुर्वन्ति तथा प्रमाणमेव, तथा व्याख्याने दृष्टस्य सचेतनाचेतनत्वलक्षणस्य वैचित्र्यस्य जातिस्मरणादेश्चोपपद्यमानत्वात् । तच्च व्याख्यानं विशेषावश्यकादवसेयम् ।

एवं च यः प्रतिषेधित जीवं स एव जीव इति प्रागुक्तमेव युक्तं, भूतानां अचेतनत्वेन तत्प्रतिषेधकत्वायोगात् । यदन्वियिनिमित्तता च चैतन्यस्य कार्यत्वेन प्राक् प्रसाधिता स आत्मैव,तस्यैवाऽनुरूपतया चैतन्यं प्रति धर्मित्वाद्युपपत्तेः । स च परिणामित्वात् सुरनारकादिपर्यायरूपेण परिणमते इति आत्मा परलोक्यपि सिद्धः । तथा च यदुक्तं प्राक्- 'आत्मनोऽभावात् परलोकस्याऽप्यभावः' – इति, तन्मन्दबुद्धिविजृम्भितमित्युपेक्षणीयमेव । न चाऽऽत्मनः सुरनारकादिरूपेण परिणमनमयुक्तमिति वाच्यम् – सत एकान्तेन विनाशाभावात् । न हि घटकपाल-योरन्तरा एकोऽपि क्षणो भावरूपताशून्य उपलभ्यते येन घटः सर्वथा विनष्टः कपालश्चाऽसन्नेवोत्पन्न इत्यपि स्यात् । किं तु घट एव कपालरूपेण परिणमते, न तु सर्वथा विनश्यतीति निश्चीयते । न च दीप-तडागोदकादेरिप निरन्वयो विनाशः, तैलादिक्षये दीपस्यैव तमोरूपेण परिणतत्वात् । निह प्रौद्यकाशकयाव-तेजःसंसर्गाभावस्तमो, येन तद्रूपत्वं विरुद्धं स्यात् । तडागोदकादेरिप पवनादिनाऽन्यत्र सञ्चार्यमाणत्वेन परिणामान्तरेण सत्त्वात् । कथमन्यथा जलेनाऽऽर्द्रीकृतायां मृदि तन्नोपलभ्यते । न हि रूपान्तरेणाऽपि तत्र तन्नाऽस्त्येव, मृदि प्रागिवाऽऽर्द्रत्वा-

भावप्रसङ्गात् । तुलायां नत्याधिक्याभावापत्तेश्च । किञ्च घटविनाशस्य भावरूपघटोपादानकत्वेन भावत्वसिद्धौ कथं न प्रमाणबाधित: सर्वत: सर्वथा विनाश: । न चैकान्तेनाऽसत उत्पादोऽपि, असत स्तुच्छरूपत्वेन भवनशक्त्ययोगात्। अन्यथैकान्तेनाऽसत्त्वायोगात्। तथाऽपि चेत् तस्य सत्त्वरूपतया भवनमिष्यते तर्हातिप्रसङ्गः, खरविषाणस्याऽप्युत्पत्तिप्रसक्तेः, तद्भवनशक्त्यविशेषात् । किञ्च यदि विवक्षितभावोत्पादोऽसदुपादान: स्यात् तर्हि तस्य कूर्मरज्जू(रोमो?)पादान करञ्जोरिवाऽसत्त्वमेव स्यात् । एवं च सतः सर्वथा विनाशाभावादत्यन्तासत उत्पादाभावाच्च युक्तं सुरनारकादिरूपेणाऽऽत्मनः परिणमनं, तत्तद्विलक्षणश्-भाशुभकर्मरूपसामग्रीसद्भावेन तत्तद्विलक्षणसुर-नारकादिपरिणामोपपत्ते:। एकस्यैव शरीरस्य बाल्ययौवनसामग्रीभेदेन बाल-युवपरिणामोपपत्तिवत् । अत एव न दानादिकियाफलस्याऽप्यभावः, परिस्पन्दात्मकचेतनावत् क्रियात्वेन तत्र सफलत्वसिद्धेः । न च सिद्धसाधनं, कीर्त्यादिफलेनाऽदृष्टफलेन फलवत्त्वसाधने सिद्धसाधनाभावात् । न च कृष्यादौ व्यभिचारस्तस्याऽपि पक्षसमत्वेन व्यभिचारा-भावात् । कृष्यादिकिया यद्यदृष्टफला न स्यात् तर्हि सर्वमुक्तिरिप स्यात् । पुण्य-पापयोरभावेन तन्निबन्धनसंसारस्याऽप्यभावात् । तद्भवसमुद्रान्यथानुपपत्तिरेव कृष्यादिक्रियाया अदृष्टफलवत्त्वे मानम् । किञ्च तुल्योपायसाध्येऽपि कार्ये प्रवृत्तानां दृश्यते तावत् फलविशेष: । स च न कारणविशेषमन्तरेण घटते, कार्यभेदस्य कारणभेदप्रयोज्यत्विनयमात् । अन्यथा शुक्लतन्तुभ्यो रुक्तोऽपि पटः प्रादुःष्यात्। न च दुष्टं कारणं एकत्र विद्यते न परत्रेति अदुष्टमेवैकत्र न विद्यत इत्यकामेनाऽपि स्वीकरणीयम् ।

किञ्च, आगमोऽपि क्रियामात्रस्यैकान्तेनाऽदृष्टफलत्वं बोधयित । यदाह भगवान् श्रीसुधर्मस्वामी भगवत्यङ्गे- "जाव णं एस जीवे एयइ वेयइ चलइ फंदइ घट्टइ खुब्भइ उदीरइ तं तं भावं परिणमइ ताव णं एस जीवे सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छिव्वहबंधए वा एगविहबंधए वा । नो चेव णं अबंधए सिय ति" । तच्चाऽदृष्टं द्विविधं, पुण्यपापरूपत्वात् । तत्र दानादिक्रियाजन्यं पुण्यं, हिंसादिजन्यं च पापम् । न च वैपरीत्यमेवाऽस्तु इति वाच्यम्, लोकप्रतीतिविरोधात् । न च गगने श्यामताप्रतीतिवदियं भ्रमरूपा, बाधकाभावात् । हिंसादिजन्यं पुण्यं दानादिजन्यं च पापमिति करूपनाया बाधकसद्धावे- अनुसंधान-२० 73

नाऽकल्पनीयत्वात् । बाधकत्वं चाऽस्या इत्थं-यदि हिंसादिक्रिया यदि(?)पुण्य-जननी स्यात् तर्हि तत्कर्तृणां बहुत्वेन बहुषु सुखित्वोपलम्भः स्यात्, पुण्यस्य सुखं प्रत्येव हेतुत्वात् । दृश्यते चाऽल्पेष्वेव सुखित्वं, ततोऽनुमीयते-दानादिक्रियैव पुण्यजननी, तत्कर्तृणामल्पत्वेन बहुषु दुःखित्वोपपत्तेः । न च दानादिक्रिया कर्तारमन्तरेण भवतीति कर्तृगवेषणायां आत्मैव कर्ता सिद्ध्यति । शरीरस्याऽत्रैव भस्मसाद्भवनेन, तमन्तरेणाऽन्यत्र तत्फलभोक्तत्वानुपपत्तेः ।

एतेन धार्मिकवचनस्य यदप्रामाणिकत्वमुदीरितं तन्निरस्तं, दानादिकियाया अदृष्टफलवत्त्वेन साधनात् । तच्चाऽदृष्टं भवान्तर इहैव वा फलमर्पयित । यदुक्तम् ''अवश्यमेव हि(?) भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥'' इति ।

यदप्युक्तं- 'जातिस्मरणमप्यसिद्धं - तदप्यसमीचीनं, पूर्वभवानुभूतधन-विनितादिचिह्नभणनानन्तरं तत्संवादेन तस्य सिद्धेः । तत्र च तद्वचनमेव प्रमाणम् । न च विप्रतारकवचनवदप्रमाणत्वमस्य, संवादेन तदुक्तस्य तिस्मन् विप्रतारकत्वा-भावात् । दृश्यते च कस्यचिद् बालस्याऽपि जातिस्मरणं-यथा-अमुकस्थाने मया पूर्वभवेऽमुकया सहाऽनङ्गत्रयोदश्यां मध्याह्नसमये कामक्रीडां कुर्वता इत्युक्तं यत्-

> ''स्तनभारनते ! स्तनकोटिगतं तव मौक्तिकदाम कथं विरुचि ? ॥'' तदा तयेत्युक्तं यत्-उडुचक्रमिदं परिपूर्णविधो-विभमस्य पुरो नहि किं भवति ? ॥ इति ।

पृष्टा च सती साऽप्येवमेव जगादेति । संवादोऽयं, न संवादाभासः, बालस्य विप्रतारणबुद्ध्याद्यभावात् । न च क्वचिद् बाष्पादिनाऽपि अग्निमनुमाय प्रवृत्तौ यथा संवादो यादृच्छिकस्तथाऽयमपीति वाच्यं । बाष्पादौ धूमत्वभ्रमानन्तरं ततोऽग्निमनुमाय प्रवृतौ क्वचिद् विसंवादस्याऽप्युपलब्धेः । न च न दृष्ट एव कश्चिदस्माभिर्जातिस्मरणवानिति नाऽस्त्येवेति वाच्यं । प्रपितामहस्याऽप्यभाव-प्रसङ्गात् । न हि स भवता दृष्टोऽस्ति येन कदाचित् स्वीक्रियते, तदभावाच्च पितामहाद्यभावे तवाऽप्यभावः स्यात् । न हि अकारणं किञ्चिज्जायते, सदा भावाभावप्रसङ्गात् । अथ पितामहादिकार्यान्यथानुपपत्त्या प्रपितामहादेः सत्त्वमवगम्यत इति चेत् । तर्हि पत्तनस्थेन बालेनोक्तं यद् दक्षिणापथे

लक्ष्मीधरग्रामे चतुर्मुखो जिनप्रासादोऽस्ति । न च तस्मिन् भवे तेन सोऽनुभूतोऽस्ति, इति तादृशयथाभूतवस्तुस्मरणरूपकार्यान्यथानुपपत्या तस्याऽपि सत्त्वमवगम्यत इति तत् तुल्यम् । अपि चाऽस्ति वृद्धस्याऽपि कस्यिवत् तीव्रक्षयोपशमयुक्तस्य बाल्यावस्थानुभूतस्मरणं । तद्वत् पूर्वजन्मानुभूतस्मरणमपि किं न स्यात् ? कस्यचित् तावत्कालविषयस्याऽपि तत्कारणक्षयोपशमविशेषस्य सम्भवात् । न च भूतानां चित्रस्वभावतया स्वप्नज्ञानिमवाऽर्था[त्] तथाभवविकलं जातिस्मरणमृत्पद्यत इति वाच्यम् । चैतन्यस्य भूताधर्मत्वेन भूतानां तथास्वभाव त्वासिद्धेः । एतेन यदुक्तमस्माभिर्बालकस्य प्रथमोत्पन्नस्येत्यादि, तत् सर्वं समञ्जसमेव । अपि च प्रथमो बालस्य स्तनाभिलाषः अभिलाषपूर्वकः, अभिलाषत्वात्, तरुणस्य भोजनाभिलाषवत्-इत्यनुमानतः सिद्ध्यति योऽभिलाषः स प्राचीनभव एव, इह भव एव तस्य स्वीकारे पक्षीभूतस्य प्रथमत्वाभावेन तस्यैव पक्षत्वापत्तौ तत्प्राचीनस्य पूर्वभव एव सिद्धिः स्यादिति सिद्ध एवाऽऽत्मा परलोकयायी ।

अथ न बहिर्व्याप्त्या साध्यं सिद्ध्यति, अतिप्रसङ्गत्, किन्त्वन्तर्व्याप्त्या, सा चेह न, प्रतिबन्धाभावात् । ततः कथं साध्यसिद्धः ? उक्तं च - "अन्तर्व्याप्तेरसिद्धिविहिश्चेद्व्याप्तिस्तस्यां साध्यसिद्धिनं जातु अन्यव्याप्त्याऽन्यस्य सिद्धः, यदि स्यात् सर्वस्य स्यात्, सर्वसिद्धिप्रसङ्गः" इति । अपि चैवं सित एवमपि शक्यं वक्तुं-योऽभिलाषः सोऽवश्यमभिलाषान्तरजनको यथा बालस्य प्रथमस्तनाभिलाषः । ततश्चैवमिवच्छेदेनाऽभिलाषसन्तिप्राप्तौ मोक्षाभावप्रसङ्ग इति । तदयुक्तम् । अभिलाषस्य लोभकर्मोदयविपाकजन्यत्वेन, लोभकर्मणोऽपि अभिलाषादिसामग्रीविशेषजन्यतया, प्राग्भवेऽभिलाषाभावाह्योभकर्मणोऽप्यभावापत्तौ तदुदयनिमित्तकस्य प्रथमस्तनाभिलाषस्याऽप्यभावप्रसङ्गेनाऽन्तर्व्यातेः सिद्धेः । न च विशेषविरुद्धत्वं, प्रथमत्वविशेषणेनैव बालाद्यस्तनाभिलाषस्यैहभविका-भिलाषपूर्वकत्वस्य बाधात् । तथा सित प्रथमत्वस्याऽयोगात् । ततश्च कुतो विशेषविरुद्धत्वं ?, 'विरुद्धोऽसित बाधन' इति वचनात् ।

यद्वा बालस्य प्रथमं विज्ञानं विज्ञानपूर्वकं, विज्ञानत्वात्, युवविज्ञान-विदत्यनुमानमात्मसिद्धौ । न च प्रतिबन्धासिद्धेर्व्याप्त्यसिद्धिः इह । न हि नाऽ(?अ)त्यन्तासत उत्पादो, नाऽपि सतो निरन्वय एव विनाशः, किन्तु कथंचित् सत एव भावान्तररूपतया परिणमनम् । ततो विज्ञानादेर्वस्तुनः स्वरूपं अन्वयेन व्याप्तम् । विज्ञानं चेत् न विज्ञानान्तरपूर्वकं स्यात् तर्हि अन्वयविरुद्धोपलब्ध्या व्यावर्त्तमानं विज्ञानं विज्ञानान्तरपूर्वकत्वेन व्याप्यत इति प्रतिबन्धसिद्धौ व्याप्यसिद्धेरसिद्धेः ।

यत् पुनः प्रतिनियतालब्धिवत्तलाभादिवैचित्र्यस्यं नियामकमन्तरेणा-ऽनुपपद्यमानत्वादित्याद्याशङ्क्य प्रोक्तं-''भूतानामेव तथास्वभावत्वतो वैचित्र्यो-पपत्तेः, यदुक्तं 'जलबुद्बुदवज्जीवा' इत्यादि''। तन्न साधीयः। प्रत्युत तस्य जीवसिद्धिनिमित्तत्वात्। तथा हि, न जलमात्रनिमित्तं तद् बुद्बुदवैचित्र्यं, सर्वत्र सर्वदा तद्धावप्रसङ्गात्। ततशाऽन्यथाऽनुपपद्यमानं तदात्मनः पवनादि कारणमवगमयित यथा, तथा भूतमात्रत्वाविशेषेऽपि नर-पश्चादिरूपेण प्रत्यात्मवै-चित्र्यमन्यथाऽनुपपद्यमानमात्मनः कारणमदृष्टमवगमयित। तदिष विचित्रकार्यदर्शनाद् विचित्रम्। तदुक्तम्-

> आत्मत्वेनाऽविशिष्टस्य वैचित्र्यं तस्य यत् कृतम् । नरादिरूपं तिच्चत्रमदृष्टं कर्मसञ्ज्ञकम् ॥ इति ।

भवति हि तत एवाऽलब्धवित्तलाभादिर्न तु भूतानां, तथास्वभावात् । भेदकमन्तरेण तथास्वभावत्वविशेषस्यैवाऽसम्भवात् । भेदकाभ्युपगमे च पर्यायतः कर्मण एवाऽभ्युपगमात् । तस्य च कर्तारं विनाऽनुपपद्यमानतया, तत्कर्तुस्त-दन्यथानुपपत्त्याऽनुमीयमानस्य जीवस्य पूर्वभवेऽप्यस्तित्वं सिद्धम् । तस्मादस्त्येव जीवः परलोकगामी । एवं च 'परलोकिनोऽभावात् सुरनार-कत्वादिलक्षण-परलोकस्याऽप्यभाव'- इत्यादि यदुक्तं तत्सर्वं निरस्तम् । आत्मसिद्धेः प्रमाणमूलकत्वात् ।

अत्र वदन्ति - सिध्यतु आत्मा । तथाऽपि अनादित्वं तस्य कृतः ? । कृत्रिमत्वेन घटादिवत् सादित्वस्यैव सिद्धेः । तिच्चन्त्यम् ।

कृत्रिमत्वं हि न कर्तारमन्तरेण भवति । अतोऽस्य कश्चित् कर्ता स्वीकरणीयः । स च जीवो वा स्यादजीवो वा । यदि जीवस्तर्हि तस्याऽपि कश्चित् कर्ता वक्तव्यः । सोऽपि च जीव एवेति तस्याऽपि कर्ता इति प्रसरन्ती अनवस्था दुर्निवारा स्यात् । यदि जीवत्वेऽपि तस्य कर्ता नेष्यते तदा कोऽयं मत्सरे भवतो यत् तदन्यजीवानां कर्तेष्यते ? इति जीवत्वाविशेषात् सर्वेऽप्यकृत्रिमा एव स्वीकियन्ताम्।

किञ्च, न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दिधयाऽपि प्रवृत्तिरूपपनीपद्यते इत्यस्य (इति अस्य) जीवनिष्पादने कि प्रयोजनम् ? । निह कुम्भकारो घटं घटनिष्पतिलक्षणमेव फलमुद्दिश्य निष्पादयित, किन्तु तिद्वक्रयाद् धनलाभादिफलम् । अथाऽसौ कृतकृत्यत्वात् तित्रष्पत्तेरितिरक्तं फलं नेच्छित । तदा तित्रष्पत्तिमपि न कुर्यात् । अन्यथा कृतकृत्यत्वमप्यस्य कुष्ठिनः पौरन्दररूपवत्त्वतुल्यम् । अथ स्वभाव एवष तस्य यत् कृतकृत्यत्वेऽपि विचित्रान् जीवान् विधत्त इति चेत् । तिर्हि जगित्रमीणमहाक्लेशकारणमसौ कल्प्यमानो न सुन्दरः महाक्लेशकर्मकारित्वेन भगवतोऽपरायत्तताभङ्गप्रसङ्गात् । न हि तत्सत्तामात्रमपेक्ष्य जीवा भवन्ति, तेषामनादित्वप्रसङ्गात् । तत्सत्ताया आदिश्चेत् स्वीकियते तर्हि सोऽपि कादाचित्क एवति कृत्रिम एव सञ्जात इति तत्कर्तृकल्पने प्रागुक्तैवाऽनवस्था ।

अथ तस्य सत्ताऽनादिरेव, परं न सा स्वसमकालं जीवोत्पत्तिकारणं, किन्तु कियत्यपि काले गते, अतो जीवानां सादित्वं इति चेत् । तर्हि जगत्कर्तुः पूर्वं जगदकारकत्वं पश्चाच्च तत्कारकत्वमिति स्वभावभेदात् स्फुटमनित्यत्वं अतादवस्थ्यस्याऽनित्यत्वात् । तथा च तस्य प्राप्तमादिमत्त्वमिति विनाशित्वमिप स्यादिति लाभिमच्छतस्तव सञ्जातो मूलस्याऽपि क्षयः ।

अथ स्वभाव एवाऽनित्यो न तु स्वभाववानिष, तस्य ततो भिन्नत्वादिति चेत्। न। स्वभावस्य स्वभाववत एकान्तेन भेदे स्वीकियमाणे तस्य स स्वभाव एव न स्यात्। घटवत् अन्यन्नाऽप्युपलम्भः स्यात्। न चैतद् दृष्टिमष्टं वा। तस्मात् कथिश्चदिभिन्न एव स्वीकर्तव्य इति भवति तस्याऽनित्यत्वे स्वभाववतोऽपि कथिश्चदिनित्यत्वं, स्वभावात् कथिश्चदिभिन्नत्वात्।

अथ जीवानामेवाऽयं स्वभावो यत् कियत्यपि काले गते जगत्कर्तुः सत्तामपेक्ष्य ते भवन्ति-इति चेत् । न । उत्पन्नानां किमयं स्वभावः अनुत्पन्नानां वा ? नाऽऽद्यः, उत्पन्नानां पुनरुत्पादाभावेन तत्स्वभावकल्पनाया निर्थकत्वात् । न द्वितीयः, अनुत्पन्नानां तुरङ्गश्रृङ्गतुल्यत्वेन स्वभावाधिकरणत्वाभावात्, स्वभावस्य वस्तुधर्मत्वात् ।

किञ्च, वीतरागो ह्यसौ करुणया यदि जीवान् करोति तदा सर्वानिप सुखिन एव कुर्यात्, न पुनर्दुःखिनः । न हि मध्यस्थोऽपि कस्यचिद् दुःखमुत्पादयित, विरोधात् ।

अथ क्रीडया विचित्रान् सत्त्वान् करोतीति चेत्, तर्हि तस्य कौतस्कृती वीतरागता ? । क्रीडाया विचित्रक्रीडनोपायसाध्यक्रियादर्शनाभिष्वङ्गात्मकतया रागस्वभावत्वात् । न च क्रीडान्यथानुपपत्त्या रागादिमत्त्वमपि स्वीक्रियते इति वाच्यम् । अन्योन्याश्रयात् । नाऽपि विचित्रसत्त्वकरणान्यथानुपपत्तिरेव क्रीडा यां मानमिति नाऽन्योन्याश्रय इति वाच्यम् । तस्यैवाऽसिद्धेः । न चाऽऽगम एव मानं, तत्र विप्रतिपत्तेः ।

किञ्च यद्यसौ रागादिमान् स्यात् तर्हि सर्वस्य कर्ता न स्यात्, अस्मदादिवत्। यो हि यस्य कर्ता स तदुपादान-सहकारिकारणानि सम्यग् वेदियता भवेत्। यथा घटस्य कर्ता कुम्भकारस्तदुपादान-सहकारिकारणानि । न च रागादिमान् पुरुषः सर्वस्य उपादानादिकारणानि जानीयात् । रागादिमत्त्वेन तस्याऽधिष्ठितौदारिकशरीरतया करणग्रामाधीनिवज्ञानोदयत्वात्। न च करणिवज्ञानं सर्वविषयकं, अतीन्द्रिये करणस्याऽप्रवृत्तेः, 'सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिने'ति वचनात्।

अथ रागादिमस्वेऽपि तस्य जगत्कर्तृत्वं भवत्येव, कृत्रिमत्वाभावात्-इति चेत् । न । कर्तृत्वेऽकृत्रिमत्वस्याऽप्रयोजकत्वात् । तदुपादानगोचरापरोक्ष-ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नानामेव तत्कर्तृत्वे प्रयोजकत्वात् । अन्यथा कालादेरिप सर्वकर्तृत्वप्रसङ्गात् । न च ते तस्य सम्भवन्ति, रागादिमस्वात् । रागादिवशगस्य च ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धावश्यम्भावेन सर्वोपादानविषयकज्ञानस्य विरहात् सर्वकर्तृत्वं कुत: स्यात् ? ।

अथ सरागो न कर्मबन्धकारणं, न चैवं तस्य [स]रागत्वमेव न स्यात्, दाहाजनकस्याऽपि वहेर्वहित्वात्, इति चेत् । हन्तैवं विविधतवहेर्यथा दाहो न भवति तथा तस्मादिप रागादेनं परमेश्वरस्य कञ्चित् सुखिनं दुःखिनं च कर्तुं प्रवृत्तिर्भूयात् । त्वदुक्तरीत्या तस्य स्वंकार्यजननं प्रति असमर्थत्वात् ।

अथ विवक्षितप्रवृत्तिलक्षणं कार्यं तज्जनयत्येव । तर्हि कर्मबन्धमपि कृतो न जनयेत् ? । न हि रागो जारस्य वक्षःस्थलपीडनाधरखण्डन-शरीरारोहण-सुरतादौ प्रवृत्तिं जनयन् कर्मबन्धं न जनयित, सर्वेषामपि मुक्तिप्रसङ्गात् ।

स्यादेतत्-तत्तत्कार्याणि कुर्वत्रपि परमेश्वरो न लिप्यते कर्मणा । जलान्तः

प्रविशत्रिप (प्रविशदिप) यथा पिद्मनीपत्रं जलेन । लिप्यते च तत्र तेन, यथा वस्त्रं तथा अस्मदादिरिति जीवत्वाविशेषोऽपि वस्तुत्वाविशेष इव किं न स्यात् ? । न च पुरुषत्वं जलसंयोगनिमित्तकारणं, तच्च पिद्मनीपत्रे नाऽस्ति ततस्तत् तेन न लिप्यते । कर्मबन्धकारणं तु रागादिरेव, स च परमेश्वरेऽप्यस्तीति स लिप्यत एवाऽस्मदादिवत् कर्मणेति वाच्यम् । तथाविधरागादेस्तत्राऽभावात् । तत्र । स्तोकतरे रागे स्तोकतरप्रवृत्तिर्भविष्यतीति स्तोकतरः कर्मबन्धोऽपि स्यात् । तथा च तदवस्थ एव सर्वज्ञत्वाभावात् सर्वकर्तृत्वाभावः ।

अथैतद्दोषभयात् स्तोकतरोऽपि तत्र रागो नास्तीति प्रोच्यते, तर्हि वीतरागत्वेन सर्वज्ञत्वेऽपि न कञ्चित् सुखिनं दुःखिनं वा स्रष्टुमभिलाष उपजायते, इति कुतः क्रीडया विचित्रसत्त्वकरणमुच्यमानं सङ्गतं स्यात् ? ।

वस्तुतस्तु जगत्स्रष्टा नाऽस्त्येव, तत्साधकप्रमाणाभावात् । न च प्रमितं क्वचित्रिषिध्यते, न पुनरप्रमितं, प्रमितश्च जगत्स्रष्टा, तदा न निषेध इति वाच्यम् । 'खरिवषाणं नाऽस्ती'त्यनेनाऽप्रमितस्याऽपि खरिवषाणस्य निषेधात् ।

किञ्च, सतो जीवान् स कुरुतेऽसतो वा ?। नाऽऽद्य:, अनवस्थापने:, न द्वितीय:, खरिवषाणस्येव तेषां तुच्छत्वेन कर्तुमशक्यत्वात् । घटस्याऽप्युपादानं विद्यत एवेति नैकान्तेनाऽसत एव तस्य करणम् । एवमेव यदि जीवानाम-प्युपादानिमध्यते तर्हि तज्जीवात्मकमेव वाच्यमिति सिद्धं जीवानामनादित्वम्, अन्यथाऽसदुपादानकत्वेन तेषामसत्त्वमेव स्यात् ।

किञ्च, यदि सर्वं जगत् परमेश्वरः करोति तदा तन्निषेधकमपि शास्त्रं तेनैव कृतमिति सत्यमेव तत् स्वीकर्तव्यम् । तथा च स नाऽस्त्येव । यदि पुनरसत्यं तदाऽसत्यशास्त्रकारित्वात् कथं स प्रमाणम् ? ।

अथाऽजीवो जीवानां कर्ता इति चेत् । न । अजीवस्य तदुपादानगोचर-ज्ञानादेरभावेन तत्कर्तृत्वानुपपत्तेः ।

अथ यथा शालिबीजादीनि ज्ञानिकलान्यपि नियतशक्त्युपेततया नियतस्वकार्यकारीणि दृश्यन्ते तथाऽयमप्यजीवस्तथाविधशक्तिसद्भावात् देवनार-कादिभेदिभिन्नान् जीवान् कुरुते इति चेत् । न । पूर्वोक्तदोषसन्दोहस्याऽन्नाऽप्यव-तारात् । तथाहि- अयमजीवः किं कृत्रिमो वा स्यादकृत्रिमो वा? । यदि कृत्रिमस्तदा सोऽप्यन्येन कर्तव्य इत्यनवस्था । अथाकृत्रिमस्तर्हि जीवैः किमपराद्धं यत् तेषामकृतिमत्वं न स्वीकियते ? । किञ्च, यद्यसावकृतिमस्तदा तित्रष्पाद्या जीवा अपि तत्सत्ताभवनतुल्यकालत्वादनादय एव प्राप्ता इति गतं विवादेन । अथ नाऽसौ स्वसत्तासमकालमेव जीवान् कुरुते यत् तेषामनादिता स्यात् किन्त्वनन्ते कालेऽतीते इति चेत् । तर्हि तस्याऽनित्यत्वं स्यात् । पूर्वं विद्यमानस्याऽकारकत्व-स्वभावस्य प्रच्युत्याऽविद्यमानस्य कारकत्वस्वभावस्योत्पादात्, स्वभावस्य च स्वभाविनोऽनर्थान्तरत्वात् । यदि च नाऽस्त्येव स्वभावभेदस्तदा पूर्वमिव पश्चादप्यकारकत्वमेव स्यात् ।

ननु तस्यैक एवेदृशः स्वभावो यदनन्ते कालेऽतीते सित स जीवान् कुरुते नाऽन्यदा । तथा च न तस्य स्वभावभेदो नाऽपि जीवानामनादिता इति चेत् । न । अनन्ते कालेऽतीते सित स तस्य स्वभावो निवर्तते एवेति वाच्यम् । तथा चाऽनित्यत्वमेव तस्य, स्वभावभेदस्याऽनित्यत्वलक्षणात् । अन्यथा सर्वादाऽप्यकारकत्वप्रसङ्गात्, करणकालत्वाभिमतकालेऽपि तस्य सत्त्वात् ।

किञ्च नाऽसौ सतो जीवान् कुरुते, सतोऽपि करणेऽनवस्थानात् । नाऽप्यसतः, एकान्ततुच्छत्वेन तेषां वन्ध्यापुत्रादीनामिव भवनशक्त्ययोगात् । तत्राऽजीवोऽपि जीवानां कर्तेति कारणविरहादनादिरेव जीवः, आकाशवत् । तदुक्तं-

> अमओ य होइ जीवो कारणविरहा जहेव आगासं । समयं च होअणिच्चं मिम्मयघड-तंतुपडमाई ॥ ॥इति।

अनादित्वाच्चाऽन-तत्वमिष, सतः सर्वथा विनाशायोगात् । तत् सिद्धमेतत् यद्-अस्ति जीवः, अनादिरन-तश्च । सोऽपि अमूर्तः, अतीन्द्रियत्वात्, गगनवत् । यो हि मूर्तः स कदाचिच्चक्षुग्रदीन्द्रियग्राह्योऽपि भवति । यथा घटारम्भकपरमाणु समूहो घटावस्थायाम् । न चाऽयं जीवः कर्मविनिर्मुक्तस्वरूपः कदाचिदिपि चक्षुग्रदीन्द्रियग्राह्यो भवति, तेनाऽतीन्द्रियत्वादमूर्त्तं एव । एवमन्येऽपि अमूर्त्तत्व-साधने मूर्तिविरह-खङ्गाद्यभेद्यत्वा-ऽसर्वज्ञानुपलम्भादयो हेतवोऽभ्यूह्याः । न चैवं सिद्धान्तविरोधः कथञ्चिन्पूर्त्तत्वस्य संसारिदशायामेवेष्टत्वात् । सिद्धि दशायां तस्य 'अवण्णे अगंधे' इत्यादिना सूत्रेणाऽऽगमेऽपि अमूर्तत्वेनैव भणनात् ।

अथाऽयं जीवः परिणामी अपरिणामी वा । तत्र परिणामीति जैनाः । अपरे पुनरपरिणामीति । तद् विचिन्त्यते । यथा मृत्पिण्डश्चक्रादिसामग्रीसद्भावाद्

घटपरिणामं प्राप्नुवन् परिणामीत्यिभिधीयते, तथा जीवोऽपि, तत्तत्सामग्रीसद्भावात् तस्याऽपि तत्तत्सुखदुःखादिपरिणामप्राप्तेः । परिणामित्वाच्च नैकान्तेनानित्यो नाऽप्यनित्यः, किन्तु नित्यानित्य एव । अन्यथा सुखादिपरिणामायोगात् । तथा हि-यद्ययमात्मा एकान्तेन नित्यः स्यात् तदा सर्वदा एकस्वभाव एव स्यात् । अप्रच्युतानुत्पन्न-स्थिरैकरूपत्वादेकान्तिन्त्यस्य । न चैवं, य एव सुखी तस्यैव सुखसामग्र्यभावेऽसुखित्वोपलब्धेः, दुःखसामग्री सद्भावे च दुःखित्वेनोपलब्धेश्च । न च सुखदुःखोभयस्वभाव आत्मा इत्येकस्वभाव एवाऽयं, युगपत् सुखदुःखानु-भवप्रसङ्गात् ।

अथ यदैव नदीमुत्तरता मुनिना चरणयोः शीतलजलसंस्पर्शात् सुखमनुभूयते, तदैव लुञ्चिते शिरिस खरतरिदनकरकरतापतो दुःखमि । अतोऽस्त्येव सुखदुःखवेदकस्वभावत्वमात्मनः इति चेत् । न । कालस्या-ऽत्यन्तसूक्ष्मत्वेन मनसञ्चाऽतीवाऽऽशुसञ्चारितया सतोऽपि कमानुभवस्याऽनुप-लक्षणात् शतपत्रपत्रशतं मया शूच्यग्रेण युगपद् भिन्नमित्यत्रेव तत्र यौगपद्याभिमानस्य भ्रमत्वात् । युगपच्चेज्ज्ञानमभ्युपगम्यते तदा मनःकल्पना निरालम्बा स्यात्, युगपज्ज्ञानानुत्पत्तेर्मनसो लिङ्गत्वात् । तदुक्तम्-

''युगपञ्जानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्ग'' मिति ।

अथ कदाचिदात्मनः सुखवेदकत्वं कदाचिच्च दुःखवेदकत्वं, तेनाऽयं उभयवेदकस्वभाव इत्युच्यते इति चेत्। तर्हि सुखवेदनकाले तस्य दुःखवेदनस्वभावो निवृत्त इत्यात्माऽपि कथिङ्कित्रवृत्त एव, स्वभावस्य स्वभाववतोऽभिन्नत्वात् । अन्यथा निःस्वभावत्वेन तस्य खरिवषाणस्येवाऽसत्त्वं स्यात् । तथा च प्राप्तमात्मनोऽनित्यत्वम् । अथ सुखवेदनकालेऽपि दुःखवेदकस्वभावो न निवर्तते, तदा तदानीं दुःखमपि वेदयेत्, प्राणिव दुःखवेदकस्वभावस्य सत्त्वात् । अथ दुःखवेदकस्वभावोऽपि तदानीं विद्यते, अन्यथा तन्नाशेन कथिङ्चदात्मनोऽपि नाशाभ्युपगमापत्तेः । न चैवं दुःखमपि तदानीं वेदयेदित्यपि वाच्यं । तत्सत्त्वेऽपि दुःखसामग्र्यभावेन दुःखवेदनानुपपत्तेरिति चेत् - हन्तैवमपि उभयसामग्रीसद्भावे उभयमप्येकदा वेदयेत्, उभयवेदकस्वभावस्य सर्वदा सत्त्वात् । न चोभयसामग्री-सिन्नधानमेकदा न भवति, स्रक्-चन्दन-विन्तादिकसुखसामग्र्या विष-शस्त्रप्रहारादिदुःखसामग्र्याश्चैकदा देवदत्ते सिन्नधानस्य प्रत्यक्षेणोपलब्धेः । न च

वेदयेदेवैकदोभयं, प्रागेव निरासात् ।

किञ्च, यां स्नक्-चन्दन-विनतादिकां सामग्रीमवाप्य सुखी भवत्यात्मा, सा किमात्मनः कञ्चिदुपकारं कुरुते न वा ? । यदि कुरुते तर्हि स उपकार आत्मनोऽर्थान्तरं अनर्थान्तरं वा ? । यद्यर्थान्तरं तदा तेन सहाऽऽत्मनः सम्बन्धो न स्यात्, घटवत्, अर्थान्तरत्वात् । तथा च सित तदाऽपि तदवस्थात्वात्राऽऽत्मा सुखी स्यात् । न चाऽर्थान्तरभूतोऽपि स उपकार आत्मना सह सम्बध्यते, तस्याऽद्रव्यत्वेन संयोगासम्भवात् । संयोगरूपत्वे तु समवायेन सम्बध्यते इत्येव तवाऽभिप्रायः । स त्विभिप्रायो वन्ध्यापुत्रेण सह संभोगाभिप्रायो युवत्याः; समवायसत्त्वे मानाभावात् । तत्साधकत्वेनाऽभिमतस्येह घटे रूपमिति प्रत्ययस्य इह भूतले घटाभावप्रत्ययस्येव समवायासाधकत्वात् । अथाऽनर्थान्तरभूत उपकारः कियत इति चेत् । स कि विद्यमानः क्रियतेऽविद्यमानो वा ? । यदि विद्यमानः, कथं क्रियते ? कृतस्य करणायोगात् । क्रियते चेत् तर्द्यानवस्था, विद्यमानस्याऽपि करणाभ्युपगमे विद्यमानत्वाविशेषात् भूयो भूयः करणप्रसङ्गः । अथाऽविद्यमानो, व्याहतमेतत्; सतोऽनर्थान्तरभूतोऽविद्यमानश्चेति विद्यमानाव्यतिरिक्तो हि विद्यमान एव भवति, अन्यथा तदव्यितरेकायोगात् ।

अथ किमनेन वाग्जालेन ? सत एव हि वाससो मिञ्जिष्ठादि द्रव्येणाऽविद्यमानस्तदव्यतिरिक्तो रिक्तो रक्ततिदिरूप उपकारः क्रियमाणो दृष्टः । न च दृष्टेऽप्यनुपपन्नतेति चेत् । तर्हि स्फुटमात्मनोऽनित्यत्वं, आत्मनोऽनर्थान्तर-भूतस्योपकारस्य क्रियमाणत्वाभ्युपगमेनाऽऽत्मन एव क्रियमाणत्वापातात्, तस्य तदव्यतिरिक्तत्वात् ।

अथ स्नक्-चन्दनादिसामग्री नाऽऽत्मन उपकारं करोति, ततो न दोष इति चेत्। तर्हि किं तेनापेक्षितेन ? उपकाराकारकत्वेन तत इव वस्त्वन्तरादप्यात्मा सुखी वा दुःखी वा स्यात्; वस्त्वन्तरादिव ततोऽपि वा न स्यात्।

अथाऽन्यद् वस्त्वन्तरं न सुखादिजननस्वभाविमिति न ततः सुखी दुःखी वाऽऽत्मा सम्भवेत्ः स्रक्-चन्दनादि तु तज्जननस्वभाविमिति, ततस्तथा तथाऽऽत्मा स्यादेवेति चेत् । ननु यदि तेन कश्चिदुपकारो न क्रियते तदा तत्स्वभाववर्णनमनर्थकमेव स्यात् । न हि परमाणौ च्छेद्ये खड्ग-सर्षपयोः स्वभावविशेषो वर्ण्यमानः सङ्गतिमाप्नुयात्, उभयोरिप तत्राऽिकञ्चित्करत्वेनाऽ-

विशेषात् ।

अथ खड्गस्य छेदका[दि]स्वलक्षणः स्वभावस्तु वर्तते, सर्षपस्य तु नाऽस्ति इति चेद् वर्ततां नाम, परं परमाणौ छेदितव्ये स वर्ण्यमानोऽनर्थक एव, तत्र द्वयोरप्यकिञ्चित्करत्वात् ।

अथाऽऽत्मन एवाऽयं स्वभावो यदनुपकार्यपि स्नक्-चन्दनादिकं प्राप्य सुखी दुःखी वा भवति आत्मा इति चेत् । विवक्षितसहकारिसिन्निधानात् प्राक् य आत्मनः स्वभावः स चेत् सहकारिसिन्निधाने न निवर्तते तदा स सुखी वा दुःखी वा न स्यात्, प्राचीनस्वभावत्वात् । अथ निवर्तते तदा प्राप्तमनित्यत्वं, पूर्वस्वभावपरित्यागेनोत्तरस्वभावोत्पादात् ।

अथोच्यते-अन्य एवाऽऽत्माऽन्यच्च सुखादि, अतः कथं सुखादियोगा-न्यथानुपपत्त्याऽऽत्मनः परिणामित्वम् ? । तत्र । एत्रं प्रतिप्राणिप्रसिद्धः सुखानुभवः कस्य स्यात् ? आत्मनः सुखान्यत्वेन तदनुभवाभावात् ।

अथ यथा स्फुटिकस्याऽलक्तकयोगाद् रक्तता भवति तथा आत्मनोऽपि सुखादियोगात् तत्प्रतिबिम्बेन तदनुभव इति चेत् । न । स्फुटिकोणलस्य हि तत्तदुपधानभेदेन तत्तत्प्रतिबिम्बं युक्तम् । तस्याऽपरापररूपापत्तिवोगतः परिणामित्वात् । आत्मा तु त्वयैकान्तो नित्य इष्यते । ततस्तस्य तत्तत्प्रतिबिम्ब-रूपतापत्तिलक्षणपरिणामशून्यत्वात् सर्वथा सुखादिप्रतिबिम्बमयुक्तम् । यदि च सुखादिसित्रिधानात् आत्मनः अपरापरसुखादिप्रतिबिम्बरूपतापत्तिलक्षणः परिणामः स्वीकियते तदा प्राप्तमात्मनः परिणामित्वम् । तथा च सति तस्य ह्लादादिस्व-भावत्वात् सुखादीनामात्मधर्मत्वप्रसङ्गः । न हि सुखमचेतने, अनुभवविरोधात् । किन्त्वात्मन्येव । न चैकान्तिनत्यपक्षे सुखयोगो घटते, सुखसामग्रीप्राप्त्यभाव-ग्रसङ्गात् । कदाचित् सुखसामग्रीप्राप्ते पूर्वस्वभावपरित्यागेन नियमेनाऽऽत्मनोऽ-नित्यत्वात् ।

किञ्च, यद्यात्मा एकान्तनित्यः स्यात् तर्हि प्रतिप्राणिप्रसिद्धो घटपटादि-विज्ञानविवर्त्तोऽपि न स्यात् । किन्तु आकालं घटाद्यन्यतरस्यैव कस्यचिद् विज्ञानं स्यात्, एकस्वभावत्वे भिन्नभिन्नवस्तुविषयकविज्ञानासम्भवात् । क्रमेण भिन्नभिन्न-वस्तुविषयविज्ञानं च दृश्यत एवाऽऽत्मिन इति स्वभावभेदात् स्फुटमिनत्यत्वम् । अथ विज्ञानं यद्घटपटादिविषयकमुत्पद्यते तदेवाऽनित्यं, न पुनरात्माऽपि, तस्य ततोऽन्यत्वात् । तत्र । ज्ञानं हि यदि एकान्तेनाऽऽत्मनोऽन्यत् स्यात् तर्हि तस्मादात्मनोऽर्थप्रतिपत्तिर्न स्यात्, तदभावाच्च तदानयनादौ प्रवृत्तिस्तु दूरापास्तैव। निह देवदत्तसम्बन्धिनो ज्ञानाज्जिनदत्तस्याऽर्थप्रतिपत्तिः; लोके मुर्खाभावप्रसङ्गात् । ततः कथञ्जिदभिन्नमात्मनो ज्ञानं स्वीकर्तव्यम् । एवं च यद्यात्मा एकान्तनित्यः स्यात् तहींकज्ञानवानेव स्यात् ज्ञानान्तरवत्त्वे ज्ञानाभिन्नत्वेन पूर्वज्ञानविनाशे आत्मनोऽपि कथञ्चिद् विनाशात् । किञ्चैवं हिंसादिपरिणतिरप्यात्मनो न स्यात्, एकान्तिनत्यत्वेन सदैकस्वभावत्वात् । दृश्यते च यदि सेति स्वीक्रियते तदा पूर्वमहिंसादिपरिणतिलक्षणस्वभावोपमर्देन हिंसादिपरिणतिलक्षणस्वभावभावा-दात्मनोऽनित्यत्वं स्यात् । तदभावाच्च बन्धोऽपि कौतस्कुतः स्यात् ? अथैतद्दोष-भयात् सर्वदैव हिंसादिपरिणतिरभ्युपगम्यते तदा मुक्तिः कदाचिदपि न स्यात् । तथा च यमनियमादिकरणमपि दुश्यमानमसङ्गतमेव स्यात्, प्रागवस्थायां तस्य हिंसापरिणतत्वात्, अथ हिंसा-परिणामस्य च त्वया सर्वदाऽभ्युपगमात् । कदाचिदनभ्युपगमे चाऽऽत्मनो भिन्नरूपत्वेनाऽनित्यत्वापातात् । न चैकस्वभाव--त्वेऽपि कदाचिद बन्धः कदाचिदबन्ध इति वाच्यं । बन्धाबन्धकाल-भेदेऽभ्यु-पगम्यमाने आत्मनोऽनित्यत्वापातात् । तथा हि-यदैवाऽस्य न बन्धस्तदा बन्धकारण-हिंसापरिणतिस्वभावे। जरसेव यौवनमबन्धकारणहिंसाविरतिपरिणामस्वभावेना-ऽपनीयते, अन्यथा तत्परिणतिस्वभावभावेन पूर्वकालवद् बलाद् बन्ध एव स्यात्। न हि वहिरनपगते दहनस्वभावे न दहतीति; तत्परिणतिस्वभावापगमे च नियतमनित्यता ।

माऽस्तु वा बन्धाबन्धकालभेदः, तथाऽप्यात्मा कथश्चिदिनत्य एव । अन्यथा य एव स्वभावः प्रथमसमये स एव द्वितीये, इति द्वितीयसमय-बन्धनीयस्याऽपि कर्मणः प्रथमसमय एव बन्धः स्यात्, तत्कारणस्य स्वभावस्य विद्यमानत्वात्, प्रथमसमयभाविबन्धवत् । ततो द्वितीयादिक्षणेऽबन्ध-कत्वमात्मनः प्राप्तमिति स्वभावभेदादिनत्य एवाऽऽत्मेति स्थितम् ।

किञ्चैवमहिंसादिविरितपरिणितरिष न सम्भवति, जीवस्यैकस्वभावत्वेन हिंसापरिणितिविच्युत्यभावात् । न चेष्टापत्तिः, मुक्त्यभावप्रसङ्गात्, तत्कारणिहंसा-दिविरितपरिणत्यभावात् । अथ हिंसादिविरितपरिणितिरभ्युपगम्यते तर्हि सर्वदा तदेकस्वभावत(वतः) मुक्तिरेव स्यात् ।

नन्वयमेव तस्य स्वभावो यत् कदाचिद् बन्धः कदाचिन्मुक्तिः । न चाऽत्र पर्यनुयोगार्हत्वं, स्वभावस्य तथाविधत्वात् इति चेत् । नूनमुन्मत्तोऽसि यदेवं प्रलपिस । यतो बन्धस्य कारणं हिंसादिपरिणतिर्मोक्षस्य पुनरहिंसापरिण-तिरनयोश्च परस्परं विरुद्धतया यौविनकायां शिशुतेव अहिंसापरिणतौ हिंसापरिण-तिर्नियतमपगच्छेत् अन्यथा तत्सद्भावेन प्रागित्र बन्ध एवेदानीमिप केवलो भवेत्र मुक्तिरिति ध्रुवमनित्य एवाऽऽत्मा ।

अत्र वदन्ति- हिंसादिपरिणतिस्तद्विरितपरिणतिर्वा आत्मनोऽवस्था-भूता । अवस्थाश्च अवस्थातुरेकान्तेन भिन्ना, धर्मधर्मिणोरेकान्तेन भेदाभ्युपगमात् । ततोऽवस्थानां विनाशेऽपि नाऽवस्थातुरिप विनाश इति नित्य एवाऽऽत्मा, अविचलितस्वरूपत्वात् इति चेत् । न । एकान्तभिन्नत्वेन ताभ्यां देवदत्तात्मनो बन्धो मोक्षश्च न स्यात् । एवमपि यदि स्यात् तर्ह्वतिप्रसङ्ग एव, सिद्धानामपि तत्फलासेभेदाविशेषात् ॥

अथाऽऽत्मा न बध्नाति पुण्य-पापे, अकर्तृत्वात् । नाऽप्यसौ मुक्तो, बन्धाभावात् । न चाऽसौ संसरित, नि:क्रियत्वात् । केवलं प्रकृतिरेव सत्नादिसाम्या-वस्थारूपा संसरित बध्यते मुच्यते चेति । तदुक्तम्-

> तस्मात्र बध्यते[न मुच्यते]नाऽपि संसरित कश्चित् । संसरित मुच्यते बध्यते च नानाश्रया प्रकृति: ॥ इति ।

तच्चिन्त्यते-

यदि प्रकृतिरेव बध्यते मुच्यते च, न पुनरात्मा, तस्य सर्वदा-ऽविकारवत्त्वात्, तर्हि भवजिहासया मुक्तेरूपादित्सया च कथं वस्तरुणीवक्षः स्थलशयनं विहाय हिमवच्छिलायां शेषे यमनियमवान् ? भवापवर्गयोरात्मनोऽ-विशिष्टत्वात् ।

ननु भ्रान्तिरियं भवताम् । नाऽहं यमादौ प्रवर्तेयं, किन्तु देहेन्द्रियमनो-विकारसिहता प्रकृतिरेवेति चेत् । नूनमुदारोऽसि, स्वधनमन्येषां ददासि । यत् प्रकृतेरचेतनत्वेन घटादेरिवाऽऽलोचकत्वायोगात्, मुक्त्यर्थानुष्ठानस्य चाऽऽलोचना-पूर्कत्वात् ।

अथाऽचेतनाऽपि प्रकृतिर्मनोविकारावस्था चेतनसम्बन्धाच्चिद्रूपा भवति,

उपाधिसम्बन्धात् । स्फुटिकोऽपि यथोपाधिरूपः । तदुक्तम्-

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् ।

मनः करोति सात्रिध्यादुपाधिः स्फुटिकं यथा ॥ इति ।

चिद्रूपं च तत् [आ]लोचनायां प्रवर्तते इति । तदप्यसमीचीनं । पुरुषस्यैकस्वभावत्वेनेत्थं सदा प्रयोजकत्वापत्तेः । तथा च सित सदैव तद्रूपत्वान्मुक्त्यभावप्रसङ्गः ।

एतेन यथा चन्द्रः स्वभावेनाऽविकृतात्मा एव सन् चन्द्रोपलस्य पयःक्षरणे कदाचित् प्रयोजकः कदाचित्र, तथाऽयमप्यात्मा कदाचिदेव प्रयोजको भविष्यति न तु सदेति निरस्तम् । चन्द्रस्याऽपि नित्यानित्यतया सर्वदैवाऽविकृत-स्वभावत्वाभावात् । अन्यथा तस्याऽपि सदा प्रयोजकत्वापत्तेरिति । तस्मादात्मन एव बन्धमोक्षौ अभ्युपगन्तव्यौ । तथा च तस्य तदन्यथानुपपत्त्या परिणामित्वमेवेति स्थितम् ।

अन्यस्याऽपि एकान्तनित्यत्वेन कथं बन्ध-मोक्षौ स्याताम् ? परिणामित्वे च कथं नाऽऽत्मनस्तौ ? प्रकृतेर्मोक्षाङ्गीकारे च तस्याः स्वरूपहानिरेवाऽभ्युपगता स्यात् । यदुक्तम्- ''प्रकृतिवियोगो मोक्षः'' इति । ततश्च प्रकृतेः प्रकृतित्ववियोगे स्वरूपभ्रंशात् । तथा च कृतो नित्यत्वमस्याः । किञ्चैवं-

> पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राऽऽश्रमे रतः । जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नाऽत्र संशयः ॥

इति सिद्धान्तो मुक्तिप्ररूपको भवतां लुप्तः स्यात्, प्रकृतेर्मुक्त्यभिधानात् । अतो दृष्टादृष्ट्योर्विरोधभावादेकान्तनित्यत्वं नाऽस्त्येव सर्वस्याऽपि वस्तुनः ॥

नन्वस्तु एकान्तेन तर्हि अनित्य एवाऽऽत्मा-इति चेद्। उत्सुकोऽसि, परं स्थिरीभव। स्थिरभावमन्तरेण निर्णयानुपपत्तेः। यद्यात्मा अनित्य एव स्यात् तर्हि कथं द्वे अपि सुखदुःखे वेदयते?। सुखवेदकस्य प्राक्षण एव नष्टत्वेन दुःखक्षणेऽनवस्थानात्। न चाऽन्य एव दुःखभोक्ता, सकललोक-व्ययवहारोच्छेदप्रसङ्गात्। लोके हि व्यवहारोऽयं- य एवाऽयं प्राग् दुःखी आसीत्, स एवाऽयमिदानीं सुखी। य एवाऽयं सुखसाधनार्थं यतते, स एव किल सुखमाप्नोति। येनैव पूर्वभवे बद्धं कर्म, स एवाऽस्मिन् भवे भुड्के। य

एवेदानीं करोति पुण्यं वा पापं, स एवाऽऽगामिभवे तत्फलं भोक्ष्यति । य एव भविवरक्तः, स एवाऽयं संयमरतो दृश्यते । यौवनावस्थापन्नोऽपि स एवाऽयं मदीयः पुत्रः अहमेव चाऽस्य पिताऽपीति । य एवाऽसौ संसारी स एव वैराग्यादिवशान्मुक्त इति । येनैव प्राग् घटादिकमनुभूतं स एव स्मरित न त्वन्यः, अननुभूतस्य स्मरणायोगादित्यादिः । स चैकान्तक्षणिकत्वे आत्मनः कथं स्यात् ? शुभाशुभकर्तुस्तदानीमेव नष्टत्वेन तत्फलभोक्तुरन्यत्वात् ।

चेत् कोऽस्त्ययं य एतादृशं वचनमत्रादीत् ?। अहमस्मि **बुद्धशिष्य** इति चेत् । वाक्योच्चारणक्षणमात्रवृत्तितया क्षणिकस्त्वं कथमद्याप्यसि ? असि चेत् कथं क्षणिकः ? । तत्क्षणनाशेऽपि तव सम्प्रति विद्यमानत्वात् । अथाऽहं नाऽस्मि, किन्त्वन्य एवाऽयं वदित-इति चेत् । तिर्हं असन् त्वं कथं वदिस 'अहं नाऽस्मि किन्त्वन्य एवाऽयं वदित' इति ? । नह्यसत् शशशृङ्गं कदाचिदप्यहं नाऽस्मीति वदिति, अविद्यमानस्याऽर्थिकयाकारित्वाभावात् । कथं वा नष्टेन त्वयाऽन्योऽयं वदतीति निश्चीयते ? अन्याऽस्तित्वक्षणे तव सर्वथाऽप्यभावात् । तस्मादस्येव त्विमदानीमपीति कथमात्मा क्षणिकः स्यात् ? ।

किञ्चैवं बाल्यावस्थानुभूतपांशुक्रीडादिस्मरणं वृद्धस्य न स्यात्, क्रीडानुभवितुर्बालात्मनस्तत्क्षण एव नष्टत्वात् । इदानीन्तनवृद्धात्मनस्तदानीमभावेन क्रीडानुभवितृत्वाभावात् । न चाऽननुभूतस्याऽपि स्मरणं संगच्छते, तव मदनुभूतस्य विद्यानगरादिनिवासस्य स्मरणापते: ।

अथ भूत-भवद्-भविष्यत्क्षणप्रवाहरूपारूपात् (प्रवाहरूपात्) सन्तानात् सर्वोऽपि स्मरणादिको व्यवहार उपपद्यते । तदुक्तम्-

> यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना । फलं तत्रैव सन्धत्ते कर्पासे रक्तता यथा ॥ इति ॥

इति चेत्। न। स सन्तानः सन्तानिभ्योऽन्यो वा स्यात् ? अनन्यो वा ?। यद्यन्यस्तिहि किं नित्यो वा स्यात् ? क्षणिको वा ?। आद्ये "क्षणिकाः सर्वसंस्कारा" इति प्रतिज्ञाव्याघातः । द्वितीये कथं स्मरणादिको व्यवहार उपपद्यते ? सन्तानस्य तत्क्षण एव नष्टत्वात् । अथ सन्तानिभ्योऽनन्य एव सन्तानस्तिहि सन्तानिन एव, न कश्चित् सन्तानः, तदव्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वरूपवत्। तथा च तदवस्थ एव पूर्ववत् व्यवहारिवलोपप्रसङ्गः ।

अथ न पूर्वापरक्षणप्रवाहमात्रं सन्तानो नाऽपि तद्व्यतिरिक्तः कश्चिद् वस्त्वन्तरभूतः, किन्तु य एवेह पूर्वोत्तरक्षणानामुपादानोपादेयभावः स एव सन्तानस्ततश्च सर्वोऽप्यनन्तरोदितो व्यवहार इत्यदोष इति चेत् । न । विविक्षितैकतमकारणक्षणाद् यथा सन्तानान्तरवर्ती क्षणो भित्रस्तथा कार्यक्षणोऽपि भित्र एव, सर्वथा कार्ये कारणधर्मानुगमाभावात् । ततो यथा देवदत्त-जिनदत्तयोरत्यन्तं भित्रत्वादेककर्तृकः स्मरणादिको व्यवहारो न सङ्गतिमश्नुते तथा विविक्षितेष्वपि पूर्वोत्तरक्षणेषु । निह भित्रसन्तानान्तरवर्तिनः क्षणादस्य कार्यक्षणस्य कश्चिद् विरोधो यित्रवन्धनोऽत्र सर्वोऽपि पूर्वोक्तो व्यवहारः प्रवर्तेत, नेतर्वेति स्यात् । न च भित्रसन्तानान्तरवर्तिनः क्षणात् कार्यक्षणस्याऽस्त्येव वैशिष्ट्यं, कार्यकारणभावात् । न हि यथैकसन्तानवर्त्तप्रथमक्षणस्य यथा स्वोत्तरक्षणस्तस्य कार्यं, स्वयं च तस्य कारणं, तथा भित्रसन्तानान्तरवर्ती स्वोत्तरक्षणोऽपीति वाच्यम् । एकान्तक्षणिकपक्षे कार्यकारणभावस्याऽसिद्धेः क्षणिकं हि कार्यत्वाभिमतं वस्तु पूर्वक्षण एव निरन्वयनष्टं सत् कथमुत्तरक्षणे(णं) जनयेत् ?। नह्यभावाद् भावोत्पत्तिः, पूर्वकारणक्षणात् पूर्वमेव कार्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । तदभावस्य प्रागिप विद्यमानत्वात्।

अथ कारणप्रध्वंसाभावादेव कार्यं न तु तत्प्रागभावादपीति नोक्तदोष इति चेत्। न। अभावस्य सर्वोपाख्याविकलत्वेन विशेषाभावादेवं व्यवस्थानुपपते: । न हि केन[चि]दपि विशेषणेन विशेषयितुं शक्योऽभावः, खरविषाणवत् सकलशक्तिशून्यत्वेन कर्मत्वशक्त्ययोगात्। अथ कारणादेव कार्यं, तदाऽन्वय-सिद्धिप्रसङ्गः, कारणभावाविच्छेदेन कार्यस्य भावाभ्युपगमात्, भावाविच्छेदस्यै-वाऽन्वयत्वात्।

नन्वन्य एव कारणभावोऽन्यश्च कार्यभावस्तत्कथिमह भावाविच्छेदेऽपि अन्वयापत्तिरिति चेत् । न । तत्त्वतो भेदकाभावेन एकान्तेनाऽन्यत्वाभावात् । क्षणयोर्हि पूर्वापरयोस्तद्धेदकत्वं स्यात् । न च तयोर्विवक्षितपूर्वापरभावयोरन्यत्वम्, अक्षणिकत्वप्रसङ्गात् । तदपरक्षणभावेऽनवस्थापातात् । अनवस्थाप्रसङ्गाभावेऽपि न तयोः क्षणयोर्भेदकत्वमेव, उभयोरिप भावयोर्भावरूपताया अविशेषात् । आकारादिभेदाद् विशेषसिद्धिरिति चेत् । न । आकारादिभेदवत् अविशेषण भावरूपताया अपि प्रतीयमानत्वात् ।

न चाऽ(नन्व)धिकृतघटजन्यकपालवत् घटान्तरजन्यकपालेऽपि

मृत्त्वादिलक्षणा भावरूपता यथा प्रतीयते तथाऽत्राऽपि, तथा चाऽस्तु तत्रेवाऽत्राऽपि अन्वयाभाव इति । तत्र, तद्रूपशक्तिगन्धपरिमाणादिसङ्गताया भावरूपताया अन्वयसिद्धिनिबन्धनत्वेनाऽधिकृतघटजन्यकपाल इव घटान्तरजन्यकपालेऽ-न्वयानापत्तेः । तत्रेवाऽत्र तथाभूताया अस्या अननुभवात् ।

अथ यस्मिन्नेव क्षणे कारणं विनश्यित तस्मिन्नेव क्षणे कार्यं जायते। अतो नाऽभावाद् भावः, कारणादेव कार्योत्पादात्। नाप्यन्वयापितः, कारणस्य निरन्वयनाशात्। तन्न । कारणकार्ययोविनाशोत्पादौ न कारणकार्ययोभिन्नौ । तथा सित तत्सम्बन्धित्वाभावप्रसङ्गात्, अर्थान्तरगतिवनाशोत्पादवत् । किन्त्वभिन्नौ । तथा च नाशोत्पादयोः कार्यकारणभावः स्यात्, कारणकार्याव्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वरूपवत् । न चैतद् युक्तम्, विवक्षितयोः कारणकार्ययोर्युगपद्भावित्वेन युवितकु चयोरिव कार्यकारणभावानुपपत्तेः । युगपद्भावश्च तयोरिभन्नकालनाशोत्पादा-भिन्नत्वाभ्युपगमात् ।

अथैते उत्पादविनाशादयो न पारमार्थिकाः किन्तु किल्पताः । न हि वस्तूनां तदितिरिक्ता काचित् क्रिया इति चेत् । तथाऽपि नाशोत्पादौ तावत् प्रतिप्राणि प्रत्यक्षेणोपलभ्येते । तौ च तुल्यकालाविति कथं भेदाभेदोद्भवा दोषाः परिहार्याः ? ।

ननु क्षणस्थितिधर्मा भाव एव नाशो न तु तदन्यः कश्चित् । तदुक्तम्-"क्षणस्थितिधर्मा भाव एव विनाश" इति । तत् कथमत्र तत्कल्पनेति चेत् । तथाऽपि कारणसत्ताक्षण एव कारणविनाशक्षणः, स एव चेत् कार्योत्पादक्षणस्तदा समकालभावितया कमलनयनानयनयोरिव कथं तयोः कार्यकारणभावः स्यादिति चिन्त्यम् ।

अथ यदि कारणतन्नाशयोधिर्मधर्मिभावः परिकल्पित एवेति ब्रूषे तदा हेतुफलभावोऽपि कुतः ? कल्पितस्याऽपरमार्थतो सत्त्वेनोभयस्याऽपि धर्मधर्म-लक्षणस्याऽभावात् । न च धर्मधर्मिव्यतिरिक्तं किञ्चिद् वस्त्वस्ति यद् हेतुः फलं वा भवेत् । न च धर्मिधर्मभावः कारणं तद्विनाशः कार्यं तदुत्पाद इत्येवंरूपो यः स एव परिकल्पितो न तु धर्म्यपि कारण कार्यलक्षणः । तत्र हेतुफलाभावाभावरूपो दोष इति चेत् । न । यदि उत्पादिवनाशरूपो धर्मः परिकल्पितस्तदा कार्यकारणलक्षणो धर्मी कुतः पारमार्थिकः स्यात् ? । धर्मरहितस्य निःस्वभावतया अनुसंधान-२० 89

खरिवषाणस्येव धिमत्वानुपपते: । स्वभावाभ्युपगमे च स्वभावस्य धर्मत्वात् अशक्य: पारमार्थिको धर्मधर्मिभावोऽपाकर्तुम् ।

स्यादेतत्-सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्तं निरंशमेवैकं स्वलक्षणं पारमार्थिकं, व्यावृत्तयश्च परिकल्पिताः, ताश्च भेदान्तरप्रतिक्षेपविवक्षायां भिन्ना इव परतन्त्रतया निर्दिश्यमाना धर्मा इति व्यपदिश्यन्ते । तस्माद् धर्मधर्मिभाव एव किल्पितो न तु धर्मी । तत्र कारणस्य कार्यस्य वाऽभावप्रसङ्गः । तथा च सित यदि पूर्वं स्वलक्षणं विशिष्टं प्रतीत्योत्तरं स्वलक्षणमुत्पत्स्यते ततः को दोष इति चेत् । मैवम् । विशिष्टं कारणं प्रतीत्य कार्यमुत्पद्यते, प्रतीयते च तत् यदुपकारि भवति । यदाह भवदाचार्यः - "उपकारीत्यपेक्षः स्यात् " इति । निरंशं च स्वलक्षणं किं करोति ? । किं कार्याभावविनाशं ? किं वा कार्यम् ?, किमुभयं वा ?, किं वाऽनुभयम् ?। न तावत् कार्याभावविनाशं स्वलक्षणं कुरुते, विनाशस्य भवताऽहेतुकत्वेनाऽभ्युपगमात् । "अहेतुत्वाद् विनाशस्य" इति वचनात् । अभ्युपगमे वा स कार्याभावविनाशः किं कार्याभावाद् भिन्नः स्यादिभन्नो वा ? यदि भिन्नस्तर्हि स विनाशस्तस्य न स्यात्, वस्त्वन्तर्रावनाशवत् । अथाऽभिन्नस्तदा कार्याभाव एव कृतः स्यात् । स च प्रागेवाऽस्तीति किं तेन कृतः कार्याभावाभिन्ने च कार्याभावविनाशे कृते सित न कार्यभावः स्यात्, प्रागिव कार्याभावस्यैव सत्त्वात् ।

अथ कारणकृतेन नाशेन कार्याभावस्य विरोधात्रास्तित्वे सित कार्यस्य सामर्थ्यादिस्तित्वं भवत्येव, भावाभावयोरेकतरप्रतिषेधस्याऽपरिविधिनान्तरीयकत्वात् । तदा तत्कार्यं निर्हेतुकमेव स्यात्, कारणस्य तदभावनाशे व्यापृतत्वात् । निर्हेतुकत्वे च कार्यस्य सदा भावाभावप्रसङ्गो, "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात्" इति न्यायात् । न चैतद् दृष्टिमष्टं वा ।

अथ नैवाऽन्यः कश्चित् कार्याभावः, किन्तु कारणमेव । करोति च तत् कार्यं विविक्षितं नाऽन्यदिति चेत् । करमात् तत् कारणं कार्यं तदेव कुरुते नाऽन्यदिति ? । अथ स्वहेतुभ्यस्तत्कारणं तत्स्वभावमेवोत्पन्नं यत् तदेव कार्यं कुरुते नाऽन्यदिति चेत् । तत् किं सत्स्वभावं कार्यं जनयेत् ? असत्स्वभावं वा ?, आहोस्विदुभयस्वभावं ?, अनुभयस्वभावं वा ? । नाऽऽद्यः, सतोऽपि करणेऽनवस्थापातात् । न द्वितीयः, असत्स्वभावस्य खरविषाणस्येव केनाऽपि कर्तुमशक्यत्वात् । न तृतीयः, एकान्तवादहानिप्रसङ्गात् ।

जैना हि एवमुपदिशन्तो विदितयथास्थितवस्तुस्वरूपाः सदिसं विराजन्ते । यदुत- कारणावस्थायां कार्यं द्रव्यात्मतया सत्स्वभावं पर्यायात्मकतया चाऽसत्स्वभाविमत्युभयस्वभाविमति न चतुर्थः, सम्भवाभावात् । न ह्येव सम्भवोऽस्ति यथा न सत्स्वभावं कार्यं नाऽप्यसत्स्वभाविमित एकतरस्वभावप्रतिषेधे सामर्थ्यादन्यतरस्वभावविधिप्रसक्तेः ।

न च तत्कारणं यदैव कार्यमुत्पद्यते तदैव सत्स्वभावकार्यजनन-स्वभावमिति वक्तुं युक्तं, व्याघातात् । यदि प्रागसत्स्वभावं कार्यं तदा कथमधुना सत्स्वभावं ? । व्योमकमलादीनामि तथाभावप्रसङ्गात् । एतेन प्रागुक्तं किमुभयं वा करोति ?, अनुभयं वेति विकल्पद्वयं निरस्तम् ।

अधोत्पन्नं वस्तु भावशब्दाभिधेयं, भावत्वादेव च चिन्ताविषयो नाऽन्यथा। दृश्यते चाऽथ तद् वस्तु प्रत्यक्षेण । ततो निर्राथका चिन्ता, दृश्यस्याऽ - पह्नोतुमशक्यत्वात् । अदृष्टस्य चाऽनुत्पन्नत्वेन चिन्तातीतत्वात् । इति चेत् । न । सत्यम् । किन्तु 'इदं उत्पन्नत्वं दृश्यमानं कथं घटते ?' इत्येवं युज्यते चिन्ता। यतः प्रत्यक्षेण दृश्यमानमपि गुणिकयावयव्यादि तव युक्तिरूपया चिन्तया बाधितं तत्र दृष्टमेव प्रत्येतव्यं, दृष्टस्याऽपि ऐन्द्रजालिककण्ठच्छेदस्य युक्त्या बाधितत्वात् ।

किञ्च, कार्यं हि किं कारणसत्तामात्रमपेक्ष्य भवति, कारणिक्रयां वा ? यद्याद्यस्तर्हि कारणकाल एव कार्यं स्यात्, उपिक्षणे कारणसत्ताया अभावात् । अस्त्वेविमिति चेत् । एकक्षणभावितया सव्येतरगोविषाणयोखि हेतुफलभावा-नुपपत्ते: । न द्वितीय: । कारणिक्रया हि तदुत्पत्तिरेव । "भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारणं सैव चोच्यत" इति वचनात् । तथा च तत्सत्तामात्रपक्षोक्तो दोष: ।

अथ कारणाभावमपेक्ष्य कार्यं भवति तदा त्वभावाद् भावोत्पत्तिरिति कारणसत्ताप्रथमक्षणेऽपि तदुत्पत्तिः स्यात् । कारणाभावस्य च कारणाभिन्नत्वेन कारणक्षण एव तदुत्पत्तेरयुक्तत्वात् ।

ननु कारणसत्तामपेक्ष्यैव यतो भवति कार्यं तत एवाऽनन्तरक्षणे भवति । अन्यथा तदपेक्षैव न स्यात्, तस्य सर्वात्मना निष्पन्नत्वात्, इति चेत् । तर्िं अनित्यत्वं कृतकत्वमात्रसत्तानिबन्धनं न स्यात्, द्वितीयेऽपि क्षणे कारणस्या- ऽनुवर्तमानत्वात् । कथमन्यथा कार्यमुत्पद्यमानं तत्कारणमपेक्षते ?, तस्य सर्वथा विनाशात् ।

अथ कृतकत्वानित्यत्वयोरभेदादनित्यत्वं कृतकत्वमात्रानु-बन्ध्येवाऽन्यथा पश्चाह्नवदनित्यत्वं कारणान्तरसापेक्षतया भित्रहेतुत्वात् कृतकत्वाद् भिन्नं न स्यात् । इत्यनित्यत्वं कृतकत्वानुबन्ध्येव इति चेत् । तर्हि द्वितीयक्षणे कारणापेक्षाया अभ्युपगमो न सुन्दरः स्यात् । तदा तस्य विनष्टत्वेन कार्यस्य तदपेक्षाया अनुपपत्तेः ।

अथैष एव कारणस्य स्वभावो यत् तस्याऽनन्तरक्षणे कार्यं भवति । कार्यस्याऽपि चैष एव स्वभावो यत् कारणक्षणानन्तरं मयोत्पत्तव्यमिति, ततो न दोष इति चेत् । तथाऽपि कार्यस्य कारणानन्तरक्षणभवने कारणस्वभाव एव निबन्धनम् । अन्यथा प्रागपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गत् । न द्वितीयक्षणे कारणस्वभावः, तस्य क्षणिकत्वात् । तत् कथं तद्भावः स्यात् ? । भावे वा तस्य तत्स्वभावोपेक्षितया न कारणस्य क्षणिकत्वं स्यात् । नाऽप्यसतः कार्यस्य स्वभावः कल्पयितुं शक्यः, स्वभावनोऽभावे स्वभावस्याऽप्यभावात् । जातस्य तस्य स तथा कल्प्यत इति चेत् । किमिदानीमनेन कर्तव्यं ? कार्यस्य प्रागेवोत्पत्तेः ।

अथ स स्वभावः परिकल्पित इति चेत् । न । तथा प्रतीत्यभावात् । एतेन यदुक्तं प्राक्- "विशिष्टं कारणं प्रतीत्य कार्यमुत्पद्यतः" इति । तत् सप्रपञ्चमपास्तम् । वस्तुतस्तु क्षणिकत्वेनाऽस्त्येव कारणस्य वैशिष्ट्यम् । युगपद् भाविनां परिनिष्पन्नत्वेन परस्परमनाधेयातिशयत्वेन विशेषणाभावात् । न च- मा भूत् सहजानां परिनिष्पन्नत्वेन परस्परमतिशयाधानं, द्वाभ्यां पुनरूपादानसहकारि-कारणाभ्यां प्राक्तनाभ्यामेकीभूय विशिष्टं तदुत्पादितम् । ततः सिद्धं वैशिष्ट्य-मिति-वाच्यम् । उत्पाद्यविशिष्टकारणापेक्षया भिन्नाद्धानां सहकारिणां सम्बन्धी कृतः विशेषः स्यात् ? उपादानस्य विशेषभावमन्तरेण विविधितसहकारिसन्निधानात् प्रागिव तत उपादानते विशिष्टफलानुपपत्तेः ।

अथ विवक्षितफलसम्बन्धिन उपादानस्य विशेषभावः सहकारिभिः क्रियमाण आश्रीयत इति चेत् । न । समकालभावित्वेन तस्याऽप्युपादानकारणस्य सहकारिभ्यो विशेषानुपपत्तेः । न हि समकालभाविनोऽन्यतो भवतः सहकारिणा-करणादन्यत एव भवत उपादानकारणस्य विशेषभावो युज्यते ।

स्यादेतत् - उत्पाद्यविशिष्टक्षणोपादानस्य विवक्षितोपादानसहकार्यु -पादानैस्तदुपादानोपादानानामपि तदुपादानोपादानैर्विशेषभाव आधीयते । तथा च न दोष: । अनादित्वाच्चोपकार्योपकारकपरम्पराया नाऽनवस्थाऽपीष्टा बाधिका

इति । मैवम् । अनादिपक्षोऽपि विशेषभावस्येष्यमाण उपकार्योपकारकाणां युगपद्भवित्वमयुगपद्भावित्वं वाऽन्तरेण न भवति । तत्र चोक्तो दोष इति ।

अथोपादानक्षणस्य स्वहेतुत एष एव स्वभाव उत्पेदे यदिकञ्चित्करमिष सहकारिकारणं प्राप्य उपादेयक्षणे विवक्षितिविशिष्टकार्यजननसमर्थं विशेषं करोति । ततो घटत एव वैशिष्ट्यमिति चेत् । न । मानमन्तरेण स्वभावः कल्प्यमानो वस्तुव्यवस्थानिबन्धनं न भवति, अनिष्टस्याऽपि भावान्तरस्य कल्पनापातात् । अपि च विवक्षितफलोपादानोपादानस्याऽस्थानपक्षपातोऽयं यत् स्वकार्यं विशिष्टस्वफलसाधनप्रवृत्तमत्यन्तानुपकारिणः सहकारिणोऽपेक्षायां नियुक्तमिति । एवं च सहकारिकृतस्य विशेषस्य सर्वथाऽनुपपद्यमानत्वेन विशिष्टं कारणं न संगच्छत एव ।

किञ्च विविधितघटक्षणादनन्तरं तदुत्तरक्षणवत् अविशेषेण सकल लोकभाविनां पटादिक्षणानां भावे सित कृतोऽयं नियमो निश्चीयते यदस्य विविधितघटक्षणस्येदमेव विविधिततदुत्तरघटक्षणलक्षणं कार्यं न त्वन्यदिति ? ।

अथाऽस्ति विविधितं कारणं विविधितफलजननस्वभावं नाऽन्यत् । कार्यमपि च तदेव विविधिततत्कारणजन्यस्वभावं नेतरत्, स्वभावसामर्थ्याद्, अतो निश्चीयते नियम इति चेत् । न । कारणत्वेनाऽभिमतस्य घटक्षणस्य पटादिक्षण इव तदुत्तरघटक्षणेऽपि अनुगमविशेषसम्पादनारिहतस्य न विविधितफलजननस्वभावः स्तोकश्रद्धाया विषयः, सर्वथा कारणगतधर्मानुगमविशेषाभावाविशेषात् । नैवाऽसौ स्वभावः परिकल्प्यमानः कथंचिदप्युपपद्यते । असति च कारणान्तरकृतकार्य इव विविधितेऽपि कार्ये तदूपरसगन्धशक्तिपरिणामानुगमादिरूपेण प्रकारेणोपकारे कथं कार्यमपि विविधितं तत्तत्कारणजन्यस्वभावं ? । कार्यान्तरवत् उपकारभावाविशेषात् ।

अथ विवक्षितघटक्षणस्य विवक्षितकार्यमेवोपकारो न त्वनुगमरूप इति ब्रूषे तर्हि पटादिकमुपकारः कुतो न भवेत्, विशेषाभावात् ?। विवक्षितकारण-जन्यस्वभावत्वाभावात् पटादेनोंपकारत्वमिति चेद् । विवक्षितकार्यस्य विवक्षित-कारणोपकारत्वे प्रयोजकं विवक्षितकारणजन्यस्वभावत्वं, तच्च किंकृतमिति वाच्यम् । किमत्र प्रष्टव्यं ?, हेतुस्वभावकृतमेव तत् इति चेत् । कस्तस्य हेतोः स्वभावो यद्धलात् कार्यस्य तत्स्वाभाव्यमुपजायते ? । नन्वयमेव स्वभावो यत्तत्कार्यं तदनन्तरमेव भवति । हेतोः स्वहेतुशक्तितस्तादृश एव स्वभाव उत्पेदे येन

तदनन्तरमेव तद् विवक्षितं कार्यं भवति । तथा च तत्कृतं कार्यस्याऽपि तत्स्वाभाव्यमिति चेत् । पटादेरिप तत्स्वाभाव्यं कथमेवं न भवेत्तस्याऽपि तदनन्तरमेव भवनात् ।

ननु विवक्षितमेव तदुत्तरघटक्षणलक्षणं कार्यं विवक्षित घटक्षण-लक्षणकारणानुकारं, न त्वन्यत् पटादिक्षणलक्षणं कार्यम् । तेन तदेव तस्य कार्यं नेतरिदिति चेत् । न । पटादेरप्येवं तत्कार्यत्वापातात्, वस्तुत्वादिना तस्याऽपि तत्प्राचीनघटानुकारित्वात् । अपि च तद्धर्मानुगमिवरहे कार्यस्य कथं तदनुरूपत्वं भवेत् ?। घटादेरिप वा कुतो न भवेत् ?। प्रमाणाभावस्योभयत्राऽपि सत्त्वात् । कारणधर्मानुगमाभावाविशेषेऽपि चेदमेवाऽस्य कार्यं नाऽन्यदित्यत्र न कोशपानं विना मानमस्ति । इति कथं त्वदुक्तं विना वक्षभं कोऽप्यङ्गीकुर्यात् ?।

किञ्चेदं कारणमपेक्ष्य इदं कार्यं जायत इत्यत्र न किञ्चिन्मानम् । कारणक्षणवर्तिनो ज्ञानस्य तदैव विनष्टत्वेन कार्यग्रहणासमर्थत्वात्, कार्यक्षणवर्तिनश्च ज्ञानस्य कार्यग्रहण एव सामर्थ्यात्, कारणस्य नष्टत्वेन तद्ग्रहणानुपपत्ते: ।

अपि च भवन्मते कार्यकारणभावः कदाचिदनुपलम्भपुरःसरेण प्रत्यक्षेणाऽवगम्यते । यदुवाच धर्मकीर्तिः "येषामुपलम्भे तल्लक्षणमनुपलब्धं सत् उपलभ्यत इति तल्लक्षणम्" इति उपलब्धिलक्षणप्राप्तम् । एतेन चोपलब्धि-लक्षणप्राप्तानुपलम्भेन तस्मिन् देशे तस्य धूमादिकार्यस्य स्वहेतोः सिन्नधानात् प्रागपि सत्त्वम् । तथा तस्य कार्यस्य सत एवाऽन्यतो देशादागमनं प्रागवस्थितकटकु ड्यादिहेतुकत्वं चाऽपाकृतमवसेयम् । तथा कदाचित् प्रत्यक्षपुरःसरेणाऽनुपलम्भेन गृह्यते । यत उक्तम्- "तत्रैकाभावेऽपि नोपलभ्यते तत् तस्य कार्य" मिति । तच्च कथं संगच्छते ? । कार्यकारणप्रत्यक्षादीनां क्षणिकत्वेन परस्यरवार्तानभिज्ञानात् ।

अथ कारणं वह्नयादि धूमादिजननस्वभाविमिति तथास्वभावतयैव तद् गृह्यते प्रत्यक्षेण, नाऽन्यथा । कार्यमपि च धूमादि वह्नयाद्दिकारणजन्यस्वभाविमिति दृष्टं सत् तत् तथैव गृह्वते, नाऽन्यथा । तेन तदग्रहणप्रसङ्गात् । तत्सामर्थ्यप्रभवश्च विकल्पोऽपि तथैव प्रवर्त्तत इति युक्तः प्रत्यक्षानुपलम्भादिना कार्यकारणभावा-वसायः । भवति हि धूमजननस्वभावानलग्राहकं विज्ञानमनलजन्यस्वभावधूमविज्ञानं प्रति कारणम् । अन्यथाऽनलग्राहकेन विज्ञानेनाऽनलस्य धूमजननस्वभावतैव न

गृहीता स्यात् । ततश्चेत इदं भवतीति प्रत्यक्षत एव सिद्धे सित नाऽन्यदाऽ-न्यन्नाऽन्यस्मादिप शक्रमूर्धादेर्धूमादि कार्यं भविष्यतीत्येवाऽसिद्धिः कार्यकारण-भावस्याऽऽशङ्कृनीया । प्रतिनियतादेव कुतश्चिदग्न्यादेः प्रतिनियतस्य धूमादेरुत्पत्तेः । अन्यथा धूमाद्यहेतुकमेव स्यात् । तथाहि-यद् यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत् तद्धेतुकम् । अन्यदा(था) चेदन्यस्मादिप धूमादि कार्यं भवेत् तर्हि न तद् अग्न्यादिव्यतिरेकानुविधायि स्यात् । तथा च न तस्याऽग्न्यादिहेतुः स्यात् । अग्न्यादेश्च भवतो धूमादिकार्यस्य न घटादिव्यतिरेकानुविधायित्विमिति न तदिप तस्य हेतुर्भवेत् । एवं चोभयस्याऽपि तद्धेतुत्वाभावात् धूमादिकमहेतुकभेव प्राप्नोति, अहेतुकत्वाच्च सदा भावादिप्रसङ्गः । इति यद् यत एकदा भवद् दृष्टं तत् सर्वदा तत एव नेतरस्माद् इति किमत्र न युक्तम् ? इति चेत् । न । कारणधर्मानुगमा-भावाविशेषात् सर्वस्य सर्वकार्यत्वप्रसङ्गात् ।

अथ स्वभाव एवाऽतिप्रसङ्गदोषप्रतिषेधं करोतीति चे [त्].....

